

मुनादी / स्त्री अकेली नहीं और अलग नहीं 4

सम्पादक
किशन कालजयी

सहायक सम्पादक
प्रकाश देवकुलिश
राजन अग्रवाल
प्रदीप कुमार सिंह

ब्यूरो
उत्तर प्रदेश : तमन्ना फरीदी
मध्यप्रदेश : जावेद अनीस
बिहार : कुमार कृष्णन
झारखण्ड : महादेव टोप्पो

सम्पादकीय सलाहकार

आनन्द कुमार
मणीन्द्र नाथ ठाकुर
आनन्द प्रधान
मंजु रानी सिंह
विजय कुमार
मीरा मिश्र
सन्तोष कुमार शुक्ल
अखलाक 'आहन'

प्रबन्ध निदेशक
अभय कुमार झा

सम्पादकीय सम्पर्क

बी-3/44, तीसरा तल, सेक्टर-16,
रोहिणी, दिल्ली-110089
+918340436365

sablogmonthly@gmail.com
sablog.in

सदस्यता शुल्क

एक अंक 25 रुपये – वार्षिक : 300 रुपये
द्विवार्षिक : 500 रुपये – आजीवन : 5000 रुपये

सबलोग

खाता संख्या-49480200000045

बैंक ऑफ़ बड़ौदा

शाखा-बादली, दिल्ली

IFSC-BARB0TRDBAD

स्वामी, सम्पादक, प्रकाशक व मुद्रक किशन कालजयी द्वारा बी-3/44, सेक्टर-16, रोहिणी, दिल्ली-110089 से प्रकाशित और लक्ष्मी प्रिन्टर्स, 556 जी.टी. रोड शाहदरा दिल्ली-110032 से मुद्रित। पत्रिका में प्रकाशित आलेखों में व्यक्त विचार लेखकों के हैं, उनसे सम्पादकीय सहमति अनिवार्य नहीं।

पत्रिका अव्यावसायिक और सभी पद अवैतनिक

पत्रिका से सम्बन्धित किसी भी विवाद के लिए न्यायक्षेत्र दिल्ली।

संस्कृति का स्त्री स्वर

सबरीमला में धर्म का मर्म : ईश्वर सिंह दोस्त 5

स्त्रीवाद क्या और क्यों? : सुधा सिंह 7

आधी आबादी की व्यथा : विनय जायसवाल 9

सांस्कृतिक समता का संघर्ष : संजीव चन्दन 11

देवदासी प्रथा का कलंक : प्रमोद मीणा 13

महिला संघर्ष जुदा नहीं : कामायनी स्वामी 15

तीन तलाक पर एक टिप्पणी : मोहम्मद अब्दुल बाकी 17

सिनेमा की नयी स्त्री : यशस्विनी पाण्डेय 19

विमुक्त जनजातियों की स्त्रियाँ : आकांक्षा कुमारी 21

विशेष रिपोर्ट

भारत में स्कूली शिक्षा : जावेद अनीस 24

सरकारी स्कूलों की बदहाली : शम्स तमन्ना 26

राज्य

मध्य प्रदेश / रोजी-रोटी और पानी का संकट : रामस्वरूप मन्त्री 29

उत्तर प्रदेश / बिछी बिसात सियासत की : शिवाशंकर पाण्डेय 31

काँग्रेस का प्रियंका कार्ड : तमन्ना फरीदी 33

गुजरात / खनन के विरोध में आन्दोलन : मुदिता विद्रोही 34

दिल्ली / प्रदूषण के खिलाफ नयी जंग : विमल भाई 36

झारखण्ड / जारी हैं भूख से मौतें : आकाश रंजन 38

स्तम्भ

चतुर्दिक / 2019 के चुनाव में उत्तर प्रदेश का महत्त्व : रविभूषण 40

खुला दरवाजा / समुद्र-मन्थन : भारत का पहला श्रमिक विद्रोह : ध्रुव गुप्त 43

क्रान्तिनामा / एक स्त्री ने रचा मुक्ति का आख्यान : सुधीर विद्यार्थी 45

आँखन देखी / ऐसे भी जीते हैं लोग : मणीन्द्र नाथ ठाकुर 48

देशकाल / नयी वाली हिन्दी के कारनामे : राहुल सिंह 51

सामयिक / दलित साहित्योत्सव के निहितार्थ : अमित कुमार 53

मुद्दा / गंगा के लिए अनशन पर युवा सन्त : बसन्त हेतमसरिया 55

संकटग्रस्त दुनिया को गाँधीजी की जरूरत : भारत डोगरा 57

साहित्य / स्त्री-विमर्श और मीराकान्त का 'नेपथ्य राग' : वसुंधरा शर्मा 58

तीसरी घंटी / हिन्दी रंगमंच में फुले-अम्बेडकरवादी विचारधारा : राजेश कुमार 60

आत्मकथ्य / फुटबॉल का मैदान और स्त्री : सोना चौधरी 63

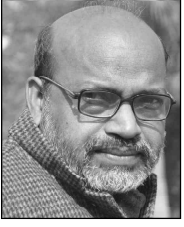
हाँ और ना के बीच / पंखों को उड़ान देने वाली अर्चना दी : रश्मि रावत 65

आवरण चित्र : प्रभात

आवरण : क्वालिटी प्रिन्टर्स, दिल्ली

अगला अंक : कसौटी पर सरकार और विपक्ष

स्त्री अकेली नहीं और अलग नहीं



भारत का स्वतन्त्रता संग्राम अपनी चेतना और अपने मनोविज्ञान में कई तरह के न्यायिक अधिकारों के संघर्ष को समाहित किये हुए था। इसलिए भारत में स्त्री आन्दोलन का इतिहास स्वतन्त्रता संग्राम से अलग नहीं है। भारत का आजादी का आन्दोलन अपने मूल ढाँचे में भले पितृ सत्तात्मक रहा हो लेकिन स्त्री

अधिकारों की परवाह भी इसी आन्दोलन के दायरे में होती रही। हालाँकि अन्य संगठनों ने भी समय समय पर स्त्री अधिकार के लिए आवाज उठायी है। सामाजिक सुधार और स्वतन्त्रता आन्दोलन में सक्रिय स्त्री-संघर्ष बीसवीं सदी की शुरुआत में स्त्री अधिकारों के प्रति भी सजग हुआ। पूरे देश में महिलाएँ विभिन्न स्तरों पर संगठित हुईं और विभिन्न महिला संगठनों ने भी महिलाओं को एकजुट किया। 1908 में हुआ लेडिज काँग्रेस का सम्मलेन हो या 1917 में गठित विमेंस इंडियन असोसिएशन जैसे संगठन, ये इस बात के प्रमाण हैं कि काँग्रेस के बाहर भी महिलाओं की सक्रिय भागीदारी कायम थी। हो सकता है स्त्री की इसी एकजुटता को ध्यान में रखकर 1918 में स्त्री-अधिकार के लिए काँग्रेस ने एक बैठक बुलाई और-महिलाओं को मताधिकार दिया जाए-इस आशय का प्रस्ताव पेश किया, मदन मोहन मालवीय के अलावा सभी ने समर्थन किया और प्रस्ताव पारित हो गया। जिस मताधिकार के लिए पश्चिम की महिलाओं को वर्षों का संघर्ष करना पड़ा वह भारत की महिलाओं को आसानी से हासिल हो गया। मताधिकार मिल जाने का मतलब यह नहीं कि भारत में महिलाओं की स्थिति अच्छी हो गयी। अभी भी भारत में दहेज के लिए हत्या, महिलाओं का शोषण, उनके साथ हिंसा और दुर्व्यवहार जारी है।

भारत में आजादी के पूर्व के स्त्री आन्दोलन की एक सीमा यह रही कि उसकी यात्रा हिन्दू विचारधारा के प्रभाव में हुई। यही कारण था कि रमाबाई जैसी महत्त्वपूर्ण स्त्री नेत्री को हिन्दू धर्म छोड़ना पड़ा। दरअसल हिन्दू धर्म में स्त्रियों के प्रति एक सामन्ती स्वभाव और स्त्री-स्वतन्त्रता के निषेध के बीज अन्तर्निहित हैं।

विनायक दामोदर सावरकर हों या मदन मोहन मालवीय स्त्री-मुक्ति के सन्दर्भ में उनकी अवधारणा सामन्ती और परम्परावादी ही रही है। सावरकर ने अपनी किताब (सिक्स ग्लोरियस इपोक्स ऑफ इण्डियन हिस्ट्री) में शिवाजी द्वारा मुगलों को हराने की चर्चा की है। शिवाजी को इस बात के लिए उन्होंने कोसा है कि मुगल सेना जब भाग गयी तो मुस्लिम महिलाओं को अपने हरम में ले जाने के बजाय शिवाजी ने उन्हें आदरपूर्वक मुक्त कर दिया। स्त्रियों के प्रति सामन्ती स्वभाव का यह बीज हिन्दू संगठनों में अच्छी तरह

फैला है जो वेलेंटाइन डे पर प्रायः हिंसक तरीके से प्रकट होते रहा है।

दरअसल भारत में आजादी के 70 वर्षों के बाद भी स्त्री विमर्श के सन्दर्भ में एक सन्तुलित सैद्धान्तिकी का निर्माण नहीं हो पाया है। भारतीय समाज का मर्दवादी दृष्टिकोण स्त्री को देह से ज्यादा कुछ नहीं मानता। यौनाचार के समय पुरुष अपनी तमाम कोशिशों में अपने पुरुष होने के अहंकार को ही तुष्ट करना चाहता है। प्रसिद्ध नारीवादी चिन्तक केट मिलेट ने अपनी पुस्तक 'सेक्सुअल पॉलिटिक्स' में भी इस स्थापना को पुष्ट किया है। विडम्बना यह कि भारत की मौजूदा नारीवादी दृष्टि इसी मर्दवाद का विलोम रचना चाहती है। वह चाहती है-चौखट से मुक्ति, घर से मुक्ति, प्रदर्शनप्रियता की मुक्ति और देह की भी मुक्ति। दुर्भाग्यपूर्ण तो यह है कि अधिकांश मामलों में स्त्री-पुरुष सम्बन्ध का आधार यौन सम्बन्ध ही होता है। यौनाचार के मामले में जो स्त्री या पुरुष अक्षम होते हैं, उन पर सम्बन्ध विच्छेद का खतरा मंडराता रहता है। स्त्री-पुरुष सम्बन्ध की यह शारीरिकता एक बड़ा सांस्कृतिक संकट है।

दरअसल अपने यहाँ स्त्री पैदा नहीं होती, वह बनाई जाती है। बचपन से ही लड़के और लड़कियों में अताकिर्क भेदभाव किया जाने लगता है। 'लड़का होकर तुम रो रहे हो?' 'लड़की होकर तुम बाहर खेलने जाओगी?' इस तरह की बातें कह कह कर बचपन में ही लड़के को स्वच्छन्दता और लड़कियों को आँसू थमा दिए जाते हैं। स्त्रियों और पुरुषों के बीच का यह बंटवारा गलत है। प्रकृति ने दोनों में जो अन्तर किया है, शारीरिक और मनोवैज्ञानिक स्तर पर सिर्फ उस अन्तर को ही ध्यान में रखकर मानवीय गरिमा के साथ स्त्री अस्मिता को स्वीकार किया जाना चाहिए। पश्चिम के स्त्री आन्दोलनों और स्त्री विमर्श से तुलना करते हुए या उससे प्रेरणा लेते हुए कई बार भारत में भी उसकी दरकार समझी जाती है। यह सच है कि स्त्री विमर्श एक वैश्विक विचारधारा है, लेकिन दुनिया भर की स्त्रियों का संघर्ष एक जैसा नहीं होता। इस तरह की अपेक्षा अव्यावहारिक इसलिए है कि प्रत्येक देश की अपनी एक सामाजिक संरचना और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि होती है। समकालीन स्त्री विमर्श पुरुषों द्वारा थोपे गये उस यौन शुचिता के आवरण से मुक्त हो चुका है जिसके पीछे लिंगभेद का मर्दवादी दृष्टिकोण और स्त्री देह के दोहन की अवधारणा है। स्त्री विमर्श इस अवधारणा को खारिज कर चुका है, लेकिन इस विमर्श को अभी और आगे की यात्रा करनी है। स्त्री विमर्श का वह भारतीय अध्याय अभी लिखा जाना बाकी है जिसमें स्त्री अस्मिता के साथ घर भी बचा रहेगा।

(किशन कालजयी)

सबरीमला में धर्म का मर्म

आवरण-कथा

ईश्वर सिंह दोस्त

सबरीमला का मामला अब बेहद दिलचस्प हो गया है। इस मन्दिर का संचालन करने वाला त्रावणकोर देवास्वोम बोर्ड 6 फरवरी 19 को अपने पुराने रुख से पूरी तरह पलट गया। बोर्ड ने सुप्रीम कोर्ट में कहा कि वह मन्दिर में सभी आयु वर्ग की महिलाओं के प्रवेश की इजाजत का समर्थन करता है। क्या यह महिलाओं की 620 किलोमीटर लम्बी और करीब चालीस से पचास लाख महिलाओं की भागीदारी वाली इन्सानी दीवार की जीत है? या फिर यह आखिरकार देवोस्वम बोर्ड की आँखें खुलना और उसका धर्म के द्वार तक पहुँचना है।



लेखक वरिष्ठ टिप्पणीकार हैं।
+918989842952
ishwardost@gmail.com



धर्म का एक व्यापक अर्थ सम्यक नीति के अनुसार आचरण है। महाभारत काल से ही यह रीत चली आ रही है कि धर्म का संकुचित रूप अकसर धर्म के व्यापक रूप से टकराता है। इसीलिए धर्म क्षेत्र में अनुष्ठान व अध्यात्म के बीच रस्साकशी चलती रहती है।

हालाँकि यह निश्चित है कि देवोस्वोम बोर्ड को धर्म के अर्थ का कोई साक्षात्कार हुआ भी है तो यह अनायास नहीं बल्कि जनवरी में इंसानी दीवार के रूप में प्रकट वामा शक्ति के बाद ही हुआ है। क्या देवोस्वोम बोर्ड यू-टर्न लेकर सचमुच धर्म के पक्ष में आ गया है या फिर वह जन दबाव के सामने सिर्फ एक कदम पीछे हुआ है? जिद्दी पुरुषों के साथ मन्दिर के द्वार पर खड़े देवोस्वोम बोर्ड का धर्म के द्वार तक पहुँचना महत्वपूर्ण तो है। मगर सबरीमला में महिलाओं की धार्मिक आकांक्षाओं की राह में अब भी बहुत से रोड़े हैं। कुछ रोड़े व्यक्तियों व दलों के रूप में साफ तौर पर दिखाई देते हैं, मगर सामन्ती और पुरुषवादी सोच से बनी सामाजिक संरचनाओं और दिमागी रूढ़ियों के अवरोध दिखते नहीं। वे परम्परा और धर्म के नाम

पर राजनीतिक रूप से फैलाई गयी सांस्कृतिक धुन्ध में छिप जाते हैं।

वामा संग वाम : इस मामले में कौन कहाँ खड़ा है? वामपन्थ सबरीमला मन्दिर में प्रवेश के पुरुषों के अधिकार को कोई नुकसान पहुँचाए बगैर इस बात की लड़ाई के साथ है कि महिलाओं को भी यह अधिकार वापस मिलना चाहिए। दक्षिणपन्थ इस मन्दिर से महिलाओं के बहिष्करण का हिमायती है। वाम ने वामा का साथ चुना है। वामा का अर्थ महिला या दुर्गा होता है।

वाम मोर्चे की अगुवाई में केरल की तमाम प्रगतिशील ताकतें सबरीमला की प्राचीन परम्परा को बहाल करने के पक्ष में हैं। वहीं भाजपा की अगुवाई में दक्षिणपन्थ केरल हाईकोर्ट के 5 अप्रैल, 1991 के फैसले के बाद दस से पचास साल की महिलाओं के प्रवेश पर लगी कानूनी रोक को बरकरार रखने के पक्ष में है। यह फैसला इन्टरनेट में मौजूद है। इसमें हाई कोर्ट ने कहा था—“हम पहले प्रतिवादी त्रावणकोर देवोस्वोम बोर्ड को निर्देश देते हैं कि वह दस से ज्यादा व पचास से कम उम्र की महिलाओं को सबरीमला के पवित्र पर्वत

में तीर्थ यात्रा के सिलसिले में आने और साल के किसी भी कालखण्ड में सबरीमला मन्दिर में पूजा करने की इजाजत न दे। हम तीसरे प्रतिवादी, केरल सरकार को निर्देशित करते हैं कि वह देवोस्वोम बोर्ड को जारी हमारे निर्देशों को लागू करने व उनका पालन करने के लिए पुलिस समेत सभी जरूरी सहायता मुहैया करे।”

सुप्रीम कोर्ट के फैसले को इस तरह पेश किया गया जैसे कि वह किसी हजारों साल पुरानी परम्परा में हस्तक्षेप कर रहा हो, जबकि वह दरअसल केरल हाई कोर्ट के 1991 के फैसले को पलट रहा था। साठ के दशक से मन्दिर में रजस्वला महिलाओं के प्रवेश पर अनौपचारिक प्रतिबन्ध लगता गया था और बाद में हाईकोर्ट से औपचारिक पाबन्दी की मांग की गयी थी। इसके पहले युवा महिलाएँ अपने बच्चों का अन्नप्राशन कार्यक्रम करने मन्दिर के भीतर जाती थी। उन्नीसवीं सदी के पहले मन्दिर में किसी भी तरह का प्रतिबन्ध नहीं था, क्योंकि गहरे जंगल में स्थित यह मन्दिर आगम परम्परा के पुजारियों के अधीन नहीं था। यहाँ आदिवासी व वंचित जातियों के लोग ज्यादा जाते थे। आज तक यहाँ हिन्दुओं से इतर धर्म के लोग भी जा सकते हैं। उन्नीसवीं सदी में केरल में धर्म सुधार व समाज सुधार की जो रस्साकशी हुई, उसके बाद इस मन्दिर में सवर्ण जातियों का आधिपत्य स्थापित हुआ, जिसके साथ ही महिलाओं पर पाबन्दी की बात उठने लगी। अयप्पा के नैष्ठिक ब्रह्मचारी होने का तर्क दिया जाने लगा। यह तर्क विवेक पर प्रहार से पहले सबरीमला की परम्पराओं का नकार और धर्म के मर्म पर प्रहार है। यह मिथकीय कहानी की अधार्मिक समझ से पैदा होता है। यह देवता को इंसानी मोहमाया के पायदान पर खड़ा कर देना है। क्या यही तर्क बजरंग मन्दिरों में दोहराया जाएगा?

समाज सुधार फिर कार्यसूची में : सुप्रीम कोर्ट के फैसले के बाद केरल के समाज में जो आलोड़न हुआ, उसका एक बड़ा हासिल यह है कि इसने केरल में महिला आन्दोलन, समाज सुधार आन्दोलन, जातिविरोधी आन्दोलन, सामाजिक, राजनीतिक अधिकारों के आन्दोलन और वाम आन्दोलन को एक साथ खड़ा कर दिया है। आजादी के पहले

केरल के वाम ने समाज सुधार आन्दोलनों में अहम भूमिका निभाई थी और उसे सामन्तवाद विरोधी संघर्ष से जोड़ा था। वाम इतिहासकार के एन पणिकर के मुताबिक विचारों के क्षेत्र में आमूल तब्दीली वाली धारा बीसवीं सदी के उत्तरार्ध में नरम और यहाँ तक कि मूक भी हो गयी। हालाँकि इसी दौरान केरल शास्त्र साहित्य परिषद् और भारत ज्ञान विज्ञान समिति जैसी संस्थाओं ने साक्षरता आन्दोलन, अन्धविश्वास विरोधी आन्दोलन और वैज्ञानिक चेतना के दूसरे अभियान सफलतापूर्वक चलाए, मगर धर्म व समाज के भीतर के सुधार आन्दोलन पीछे हो गये। मन्दिर प्रवेश जैसे मुद्दे बौद्धिक रूप से प्रखर नारीवादियों को व कई आधुनिक वामपंथियों को आकर्षित नहीं करते थे। इसका असर यह भी हुआ कि प्रबोधन की विरासत के बावजूद केरल में पितृसत्ता की संरचनाएँ मजबूत रहीं।

सबरीमला के बाद इन आन्दोलनों में एक-दूसरे के साथ खुल कर खड़े रहने की हिचक खत्म हो गयी है। मुख्यमन्त्री पिनराई विजयन बताते हैं कि केरल के पुनर्जागरण की विरासत को बचाने के लिए बुलाई गयी एक बैठक में दलित व पिछड़े जाति के संगठनों ने महिला दीवार बनाने का प्रस्ताव रखा था, जिसे सभी ने तुरन्त मान लिया। सुप्रीम कोर्ट के फैसले के खिलाफ जिस तरह अगड़ी जाति का एक संगठन नायर सर्विस सोसाइटी खुल कर आया और उसने नायर महिलाओं के प्रदर्शन करवाए, उससे एसएनडीपी जैसे पौने दो सौ से ज्यादा संगठन वाम मोर्चे के इर्द-गिर्द जमा होने लगे। इसने मन्दिरों में दलित व पिछड़ी जातियों के प्रवेश के संघर्षों के इतिहास की स्मृतियों को जीवित कर दिया।

क्या यह विधि की विडम्बना है कि आज केरल में वामपन्थ धर्म के पक्ष में है और दक्षिणपन्थ अधर्म को! काँग्रेस ने केरल में इस मसले पर आरएसएस का नेतृत्व स्वीकार कर लिया है। जहाँ देवोस्वम बोर्ड ने आखिरकार महिलाओं के धार्मिक अधिकार के पक्ष में यू-टर्न लिया, वहीं भाजपा ने इसके विरुद्ध यू-टर्न लिया। 2016 में आरएसएस के भैयाजी जोशी ने केरल में प्रगतिशील छवि बनाने के चक्कर में महिलाओं को सबरीमला मन्दिर में प्रवेश दिये जाने की पुरजोर वकालत की थी। मगर जब शहरों में प्रभावी नायर सर्विस

सोसाइटी ने सुप्रीम कोर्ट के निर्णय का विरोध करना शुरू किया तो भाजपा को चुनावी मौका नजर आने लगा।

समाज के दक्षिणपन्थियों एक हो!

अब इस मसले पर हिन्दू व मुसलिम दक्षिणपन्थ एक जगह आकर खड़ा है। केरल में ईसाई व मुसलिम धर्म के रूढ़िवादी तबके ने सबरीमला के मसले में दक्षिणपन्थ का समर्थन किया। शायद उन्हें डर था कि धर्म व समाज सुधार का यह कारवाँ उनके द्वार न पहुँच जाए। मुसलिम दक्षिणपन्थ तीन तलाक के मामले में कोर्ट या विधायिका के हस्तक्षेप को धर्म में राज्य का हस्तक्षेप बताकर नकारता है। यही बात हिन्दू दक्षिणपन्थ सबरीमला के मुद्दे पर कर रहा है। साम्य इतना गहरा है कि दोनों तरफ के बयानों में लोगों व मुद्दों को बदल दें तो वे एक-दूसरे के बयान बन जाएँगे। यह साम्य थोड़ा आगे भी जाता है। यह है उदारवाद को धर्म के क्षेत्र से दूर रखने का। उदारवाद यानी भारतीय संविधान की प्रस्तावना, जिसमें समता व न्याय के अधिकार की बात की गयी है। मजदर बात यह है कि अपनी बात को मजबूत बनाने के लिए धार्मिक स्वतन्त्रता के अधिकार को देने वाले संविधान के ही एक अनुच्छेद की दुहाई दी जाती है।

क्या किसी धार्मिक समुदाय को यह अधिकार नहीं होना चाहिए कि वह अपने पूजास्थल को अपने नियमों के मुताबिक चलाए? संविधान की उदारवादी सोच कहती है कि धर्म के हर मामले में राज्य को हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। मगर धर्म व्याख्याओं, टीकाओं, भाष्यों व विवादों से स्वतन्त्र नहीं है। धर्म शब्द व संस्था के बहुलार्थ हैं। इसमें अध्यात्म की समतावादी पुकार से लेकर अनुष्ठानों के शक्ति-सम्बन्ध तक आते हैं। कई बार धर्म जीवन पद्धति के रूप में अपने ही कुछ धर्मावलंबियों के दमन व प्रभुत्व पर आधारित हो सकता है, जैसे कि छुआछूत, जाति दमन, पितृसत्ता से वैधता प्राप्त हिंसा व दमन। यहाँ संविधान का दायित्व है कि वह इन धर्मावलंबियों को धर्म के नाम पर पुख्ता हुए सामाजिक शक्ति सम्बन्धों के चंगुल से निकालते हुए धर्म के भीतर के दूसरे स्वरो को सुने और न्याय का मौका दे।

□

स्त्रीवाद क्या और क्यों?

आवरण-कथा

सुधा सिंह

स्त्रीवादी सैद्धान्तिकी में 'जेण्डर' का विमर्श महत्वपूर्ण कारक तो है ही इसके अलावा 'पॉवर' या 'शक्ति' अन्य महत्वपूर्ण कारक है। स्त्री को वंचित, अल्पसंख्यक समुदाय के रूप में देखने और स्त्री के लिए बराबर के हक, अवसर और अधिकारों की माँग के पीछे यह धारणा काम करती है। इसके पीछे पुरुष के पॉवर को देखा जाता है। इसके अलावा आर्थिक पॉवर, सत्ता की ताकत आदि को स्त्री के लिए दमनकारी रूप में देखा जाता है। स्त्रीवाद का एक धड़ा विशेषकर उत्तरसंरचनावादी धड़ा 'पॉवर' को एकरेखीय रूप में नहीं देखता। उनका मानना है कि हर हाल में स्त्री वंचित है यह सिद्धान्त गलत है।



लेखिका दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली में हिंदी के प्रोफेसर हैं।
+919718539322
singhsudha.singh66@gmail.com



स्त्री के सवालों पर सैद्धान्तिक रूप से विचार के क्रम में पहला सवाल उठता है कि स्त्रीवाद क्या है?

स्त्रीवाद की कई तरह से परिभाषा देने की कोशिश की गयी है। राजनीतिक प्रकल्प के रूप में स्त्रीवाद विभिन्न राजनीतिक दलों के लिए, कर्मी सभाओं, शिक्षण संस्थाओं, स्थानीय और राष्ट्रीय प्रशासन के लिए एक प्रतिरोधी एजेण्डा है। प्रतिरोधी एजेण्डा के रूप में ज्यादातर स्त्री के मसलों पर स्त्री अध्ययन केंद्रों, विभिन्न राजनीतिक संगठनों और उपसंगठनों आदि के जरिये की बात की जाती है। इनमें स्त्रीवाद का मुद्दा मुख्य नहीं होता। स्त्रीवाद के प्रति यह उपेक्षा भाव आजकल की लड़कियों में भी देखा जाता है। ये वो युवा लड़कियाँ हैं जो स्कूल, कॉलेज और विश्वविद्यालयों में शिक्षा प्राप्त कर रही हैं, जिन्हें कई सामाजिक अधिकार सरलतापूर्वक बिना किसी संघर्ष के मिल गये हैं, और वे एकल परिवार की संरचना और पारिवारिक आय में तुलनात्मक रूप से वृद्धि के कारण कम भेदभाव का शिकार हुई हैं। इन्हें भेद-भाव का एहसास सामाजिक संरचनाओं की गम्भीर जाँच-पड़ताल के बाद ही हो पाता

है। इनके लिए स्त्रीवाद का मतलब है स्त्री की 'स्वतन्त्रता', 'स्त्री की मुक्ति'। स्त्रीवाद से ये अपना सरोकार महसूस नहीं करतीं। हिन्दी में ऐसी कई लेखिकाएँ हैं जो स्त्री के, शोषण, उत्पीड़न का चित्रण करती हैं लेकिन स्त्री की मुक्ति से अधिक उनका कोई एजेण्डा नहीं है। ये स्त्रीवादी अवधारणाओं और माँगों को सामने लाने का काम नहीं करतीं। यह भी सच है कि स्त्री के प्रश्न दक्षिण अफ्रीका, भारत और यूरोप में एक जैसे नहीं हैं। सामान्य विशेषताओं के अलावा प्रत्येक की अपनी अलग प्रकृति और संरचना है।

स्त्री के सवाल एकरूप सवाल नहीं हैं। इन्हें एकरूप ढंग से नहीं देखा जा सकता। यह कहना कि स्त्रीवाद पुरुषों द्वारा स्त्री के शोषण और स्त्री के मातहतकरण पर एकमत है और एक जैसे नजरिये से सोचता है, गलत है। सामाजिक संरचनाओं के बरक्स स्त्रीवाद का विकास देखा जाना चाहिए। चाहे उसे पूँजीवाद कहें, पितृसत्ता कहें या लिंगभेद युक्त समाज (सेक्सिअस्ट सोसाइटी) कहें इनके सन्दर्भ से समाजवादी, परिवर्तनकारी और उदारवादी स्त्रीवाद विकसित हुआ है। इनमें एक समानता है कि

ये स्त्री के शोषण को वरीयता देते हैं। लेकिन इनकी सबसे बड़ी कमजोरी है कि ये इस पक्ष पर अपना सारा जोर लगा देते हैं और स्त्री को मनुष्य के रूप में देखने के मुद्दे से इनका ध्यान हट जाता है। नस्लवादी स्त्रीवाद, मनोवैज्ञानिक स्त्रीवाद, उत्तरसंरचनावादी स्त्रीवाद, उत्तरआधुनिकतावादी स्त्रीवाद और अन्य कोटि का स्त्रीवाद स्त्री को नैतिकता और 'स्त्रियोचित' गुणों के उच्चतर स्तर पर स्थापित करके मूल्यांकित करता है, ये सभी दृष्टियाँ स्त्री को एक मनुष्य के रूप में देखने से परहेज करती हैं। स्त्री अध्ययन के क्षेत्र में दृष्टियों का बिखराव 'स्त्रीवादी' सिद्धान्त को निरन्तर और सुपरिचित धारा के रूप में देखने से रोकता है। पर इतना स्पष्ट है कि समाजशास्त्र और मानविकी में अध्ययन की अन्य दृष्टियों से भिन्न स्त्रीवादी अध्ययन दृष्टि ने अपनी कुछ विशेषताएँ निर्मित की हैं। लेकिन केवल जेण्डर ही समाज और मानवीय सम्बन्धों के बीच निर्धारक कारक नहीं है बल्कि जाति, लिंग, वर्ग और अन्य विमर्श जेण्डर के विमर्श से टकराते हैं और कई बार अन्तर्विरोधी स्थितियाँ पैदा करते हैं।

स्त्रीवादी सैद्धान्तिकी में 'जेण्डर' का विमर्श महत्वपूर्ण कारक तो है ही इसके अलावा 'पॉवर' या 'शक्ति' अन्य महत्वपूर्ण कारक है। स्त्री को वंचित, अल्पसंख्यक समुदाय के रूप में देखने और स्त्री के लिए बराबर के हक, अवसर और अधिकारों की मांग के पीछे यह धारणा काम करती है। इसके पीछे पुरुष के पॉवर को देखा जाता है। इसके अलावा आर्थिक पॉवर, सत्ता की ताकत आदि को स्त्री के लिए दमनकारी रूप में देखा जाता है। स्त्रीवाद का एक धड़ा विशेषकर उत्तरसंरचनावादी धड़ा 'पॉवर' को एकरेखीय रूप में नहीं देखता। उनका मानना है कि हर हाल में स्त्री वंचित है यह सिद्धान्त गलत है। पॉवर अनिवार्य रूप से कुछ लोगों जैसे पुरुषों, श्वेतों और पूँजीपतियों के पास होता है और कुछ लोगों जैसे स्त्रियों, अश्वेतों और मजदूरों के पास नहीं होता ऐसा मानना पॉवर की यांत्रिक व्याख्या करना है। कोई व्यक्ति या समूह एक सम्बन्ध में मातहत हो सकता है और अन्य में दूसरे को मातहत बना सकता है। अश्वेत स्त्रीवाद के अनुभव इसके उदाहरण हैं।

स्त्रीवाद के अध्ययन के साथ संस्कृति के अध्ययन का भी सम्बन्ध जुड़ा है। स्त्री की

देह और उसके सामाजिक सांस्कृतिक प्रतिनिधित्व का सवाल महत्वपूर्ण सवाल है। समाज में कैसे स्त्रीवादी और पुंसवादी पहचान निर्मित होती है, स्त्री और पुरुष कैसे बनाए जाते हैं, यह सांस्कृतिक अध्ययन का हिस्सा है। पहचान की कोटि को इस रूप में निर्मित करने में किसका फायदा है? स्त्रीवाद के सांस्कृतिक अध्ययन में स्त्रीवादी, बुद्धिजीवी, राजनीतिज्ञ, कलाकार और साधारण स्त्रियाँ सभी शामिल हैं क्योंकि यह संघर्ष केवल जनमाध्यमों, कलारूपों आदि के प्रतीकात्मक प्रस्तुतियों के दायरे तक नहीं सिमटा हुआ है बल्कि ज्यादा ठोस रूप में रोजमर्रा के जीवन की सामान्य गतिविधियों, विचारों और अनुभवों में शामिल है। इसमें घरों में काम के बँटवारे से लेकर स्त्री की घर के निर्णयों में भागीदारी, स्वायत्तता, भाषिक व्यवहार, व्यंग्य, गालियाँ, देखने की भंगिमा, घिनौने हमलों चाहे वह विमर्श के स्तर पर हों या ठोस शारीरिक स्तर पर-सभी शामिल हैं। इसमें स्त्रियाँ तो शामिल हैं ही समलैंगिक पुरुष भी शामिल हैं।

जेण्डर पर बहस जारी है, जेण्डर की अवधारणा को रोज चुनौती दी जा रही है उन स्त्रीवादियों की तरफ से भी जो इसे बदलना चाहती हैं और उन रूढ़िवादियों की तरफ से भी जो इसे बनाए रखना चाहते हैं। इस अर्थ में सांस्कृतिक स्त्रीवाद राजनीतिक और अकादमिक बहस में महत्वपूर्ण स्थान रखता है। संस्कृति के क्षेत्र में स्त्रीवादी एजेण्डे के रूप में 'प्रतीकीकरण' और 'प्रतिनिधित्व' को स्थापित किया गया। इस प्रक्रिया में 'वैयक्तिकता' और 'मैं' (सेल्फ) की अवधारणा पर महत्वपूर्ण काम हुआ है। स्त्रीवाद के अन्तर्गत सांस्कृतिक अध्ययन की एक व्याख्या है कि इसने स्त्रीवादियों को अस्तित्व, अभिव्यक्ति के विभिन्न कलात्मक रूपों की व्याख्या के बौद्धिक कर्म में लगाया है जो लेखकों और विद्वानों और जनता के रोजाना जीवन के बारे में सूचनाएँ देता है। लेकिन स्त्रीवादी सांस्कृतिक अध्ययन का दायरा इतना छोटा नहीं कि यह केवल महत्वपूर्ण और साधारण लोगों के जीवन का रोजनामचा हो। बल्कि इसके दायरे में समाज में मौजूद स्त्री उत्पीड़न का अभ्यासजनित रवैया, पोर्नोग्राफी, गर्भपात, पुंसहिंसा, तकनीक और विज्ञान का स्त्री के प्रति रवैया सभी शामिल हैं। ये केवल सामाजिक संस्थाएँ और आदतें भर नहीं हैं

इनका एक प्रतीकात्मक अर्थ भी है। ये पहचान के निर्माण और पुराने विश्वासों को पकड़े रखने का आधार भी हैं।

'जेण्डर' और 'पॉवर' स्त्रीवादी अध्ययन के महत्वपूर्ण घटक हैं। इनकी जटिलताओं को समझे बिना स्त्रीवाद पर बात नहीं की जा सकती। सांस्कृतिक अध्ययन के तहत जेण्डर की सामाजिक निर्मित और विमर्श आते हैं। वर्तमान समय में जनमाध्यम सांस्कृतिक विमर्श का महत्वपूर्ण हिस्सा है। सांस्कृतिक अध्ययन के अनेक रूप प्रचलित हैं जो पापुलर कल्चर से लेकर प्रतिनिधित्व, सामूहिक पहचान जैसे राष्ट्रीय, नस्लीय या जेण्डर अस्मिताओं के रूप में मौजूद हैं। सांस्कृतिक अध्ययन का आधार मार्क्सवादी अध्ययन और वाम राजनीति है और अकादमिक दुनिया के बाहर यह प्रगतिशील राजनीति के साथ जुड़ा हुआ है। स्त्रीवादी माध्यम अध्ययन के लिए महत्वपूर्ण है कि माध्यमों में जो चीज आनन्द के उत्पादन की राजनीति के तहत लगातार पेश की जा रही है वह क्या है, इसकी पड़ताल की जाए। लोकप्रिय धारावाहिकों, नाटकों, महिला पत्रिकाओं और गॉसिप पत्रिकाओं में स्त्री मुक्ति के नाम पर और रोमांस पत्रिकाओं में 'आनन्द की राजनीति' के नाम पर क्या आ रहा, किस दृष्टिकोण का निर्माण किया जा रहा है, आनन्द के उपभोग में स्त्री की भूमिका क्या है?

स्त्रीवादी अध्ययन का जितना विकास हो रहा है, उसकी स्थापनाओं में अन्तर्विरोध भी उतनी ही तेजी से दिखाई दे रहे हैं। धारावाहिकों की लोकप्रियता ने कई तरह के सवाल खड़े किए हैं। उदाहरण के लिए धारावाहिकों की सबसे बड़ी उपभोक्ता स्त्रियाँ हैं। वे जब धारावाहिक देखती हैं, उनके अभिनेता अभिनेत्रियों की जीवनशैली और आदतों की नकल करती हैं, कहानी का आनन्द लेती हैं तो जेण्डर अस्मिता की वर्चस्वमूलक संरचनाओं को बनाए रखने के लिए इन धारावाहिकों की आलोचना का नैतिक आधार कमजोर होता है। लोकप्रिय संस्कृति के आनन्द और स्त्रीवाद के राजनीतिक उद्देश्यों के बीच का यह तनाव स्त्रीवादी माध्यम अध्ययन की सैद्धान्तिकी के मुख्य अन्तर्विरोधों में से एक है। सभी स्त्रीवादी अध्ययन सांस्कृतिक अध्ययन हैं और सभी सांस्कृतिक अध्ययनों में स्त्री अध्ययन शामिल है यह मान लेना किसी भी तरह के स्त्री अध्ययन के लिए घातक है।

आधी आबादी की व्यथा

आवर्ण-कथा

विनय जायसवाल

आज भारत में कामकाजी महिलाओं की स्थिति परम्परावादी और आधुनिकता के संक्रमण के बीच फँसकर रह गयी है। यह बिल्कुल साफ है कि जो महिलाएँ खुद के दम पर आर्थिक रूप से सशक्त हुई हैं, उनकी घर के निर्णयों के साथ ही सामाजिक और बाहरी मामलों में भी निर्णयात्मक स्थिति मजबूत हुई है। ऐसे में उन महिलाओं की निर्णायक स्थिति उतनी मजबूत नहीं है, जो उच्च शिक्षा हासिल करने के बावजूद किसी तरह की आर्थिक गतिविधि में हिस्सा नहीं ले रही हैं।



लेखक स्वतंत्र पत्रकार हैं।
+919968605464
vinayimc@gmail.com



भारत में महिलाओं की स्थिति के बारे में बात करते समय हमेशा यह बात याद रखनी चाहिए कि जिस तरह से भारत में सामाजिक रूप से दो देश इंडिया और भारत रहते हैं, उसी तरह से इंडिया और भारत में अलग-अलग रहने वाली महिलाओं को साफ-साफ पहचाना जा सकता है। यह बात उन लोगों से शायद नहीं पचे जो यह मानकर चलते हैं कि पूरे देश में महिलाओं की एक जैसी स्थिति है। हम राजनीति में ऊँचे पद पर विराजमान महिला नेता की तुलना उस ग्रामीण महिला प्रधान से कैसे कर सकते हैं, जिसके सारे राजनीतिक निर्णय प्रधानपति लेता है। इसी तरह से एक गाँव में पढ़ाई से वंचित रह गयी एक घरेलू महिला की तुलना महानगर और नगर की पढ़ी-लिखी हाउसवाइफ से कैसे कर सकते हैं या गाँव में अपने खेतों में काम करके या मजदूरी करके पूरे घर का कामकाज देखने वाली महिला की तुलना शहर की उस नौकरीपेशा महिला से भी कैसे कर सकते हैं, जो झाड़ू-पोंछा, खाने बनाने से लेकर बच्चे सँभालने तक के लिए मेड रखती है। यह वही महिला होती है, जो दिन-भर में 5-6 घरों में काम करके

भी अपने घर में वापस जाकर फिर से काम करती है। इसी तरह से सड़क पर चाय की दुकान पर बैठने वाली, गली-गली घूमकर सब्जी और अन्य सामान बेचने वाली महिलाओं की तुलना किसी कॉर्पोरेट की नौकरी करने वाली महिला अथवा अपना बड़ा बिजनेस सँभालने वाली किसी महिला से भी कैसे कर सकते हैं। इस तरह से साफ है देश में महिलाओं की दो तरह की आबादी रहती है और विभिन्न रूपों में इनके बीच गहरी असमानता है।

आज भारत में कामकाजी महिलाओं की स्थिति परम्परावादी और आधुनिकता के संक्रमण के बीच फँसकर रह गयी है। यह बिल्कुल साफ है कि जो महिलाएँ खुद के दम पर आर्थिक रूप से सशक्त हुई हैं, उनकी घर के निर्णयों के साथ ही सामाजिक और बाहरी मामलों में भी निर्णयात्मक स्थिति मजबूत हुई है। ऐसे में उन महिलाओं की निर्णायक स्थिति उतनी मजबूत नहीं है, जो उच्च शिक्षा हासिल करने के बावजूद किसी तरह की आर्थिक गतिविधि में हिस्सा नहीं ले रही हैं। लेकिन उन महिलाओं की निर्णायक स्थिति और भी

ज्यादा दयनीय है, जो आर्थिक और सामाजिक रूप से पिछड़ी हैं, क्योंकि काम करने के बावजूद उनकी अपने घरों में कोई निर्णायक स्थिति नहीं होती है। इससे एक निष्कर्ष पर साफ तौर पर पहुँचा जा सकता है कि महिलाओं की निर्णायक स्थिति को तीन मुख्य बिन्दु निर्धारित हैं, पहला सामाजिक स्थिति, दूसरी शिक्षा और तीसरी कामकाजी स्थिति।

अगर सामाजिक रूप से देखें तो भारत में महिलाओं की सामाजिक स्थिति के अनुसार कोई प्रामाणिक डाटा नहीं है। भारत में महिलाओं की सामाजिक स्थिति को उसी रूप में देख सकते हैं, जिस रूप में भारत में जातिवादी संरचना विद्यमान है। एक अनुमान के तौर पर देखें तो भारत की कुल महिला आबादी की करीब एक-चौथाई आबादी दलित और आदिवासी है। यह आबादी दलितों और आदिवासियों के साथ हो रहे भेदभाव, अन्याय और शोषण के साथ उन देशों को भी साथ में झेलती है, जो एक महिला होने के कारण उसे झेलना पड़ता है। उसे दलित और आदिवासी वंचनाओं के साथ ही खुद दलित और आदिवासी समाज में ही महिला होने का दंश झेलना पड़ता है। इसके साथ ही इन्हें अपनी ऊपर की जातियों के न केवल पुरुषों के शोषण बल्कि महिलाओं के भी अमानवीय व्यवहार का शिकार भी होना पड़ता है। एक बहुत बड़ा सच यह भी यही कि सामाजिक ढाँचे में सामाजिक शोषण के अलावा महिलाओं का महिलाओं द्वारा वर्गीय शोषण भी होता है। यही महिलाएँ गाँवों में लोगों के खेतों में काम करती हैं, मजदूरी करती हैं, शहरों में लोगों के घरों में काम करती हैं और औद्योगिक मजदूर भी होती हैं। यही महिलाएँ बलात्कार की शिकार भी सबसे ज्यादा हैं, जिनकी उस तरह कोई मीडिया रिपोर्टिंग नहीं होती है, जिस तरह अन्य महिलाओं के मामलों की होती है। जबकि करीब दो चौथाई अन्य पिछड़ा वर्ग की महिलाएँ, वह आबादी हैं जिनमें शिक्षा होने के बावजूद घरों की चारदीवारी में ज्यादा कैद हैं। इस आबादी की बहुत कम फीसदी महिलाएँ ऐसी हैं, जो आजीविका के लिए बाहर हैं या उच्च नौकरियों में हैं। इनमें कई अतिपिछड़ी जातियाँ भी हैं, जिनकी सामाजिक स्थिति दलित और आदिवासी महिलाओं से कहीं से भी अलग नहीं है। बाकी करीब एक-चौथाई महिलाओं

को वह सामाजिक श्रेष्ठता के साथ ही वर्गीय श्रेष्ठता का अधिकार भी हासिल है। यह तबका आर्थिक तौर भी काफी मजबूत है, जिनके चलते इस वर्ग की महिलाओं को महिला सशक्तीकरण का सबसे अधिक फायदा मिला है। शिक्षा, नौकरी और राजनीति में इस वर्ग की महिलाएँ इसलिए भी ज्यादा प्रगति कर पायीं क्योंकि इन्हें अच्छे स्कूल, अच्छी सुविधाओं के साथ ही इन्हें, इनका काम निपटाने के लिए दलित, आदिवासी और अतिपिछड़ी समुदाय की महिलाएँ नौकर के रूप में मिलीं। जिस समय ये बड़े-बड़े स्कूल में पढ़ रही होती थीं, उस दलित, आदिवासी और अति-पिछड़ी समुदाय की बच्चियाँ इनके घर के काम निपटा रही होती थीं। पिछड़ी समुदाय की लड़कियाँ या खुद के घर का काम करती थीं या फिर बाहर निकलने पर आर्थिक स्थिति उनकी राह रोक लेती थी। इस तरह से दलित, आदिवासी और अतिपिछड़ी महिलाओं का सामाजिक पिछड़ापन, उन्हें और पीछे धकेलता जा रहा है और जातीय रूप से आगे एवं वर्गीय रूप से सशक्त महिलाओं के शक्तीकरण की राह को आसान करता गया है।

अब अगर शिक्षा के आधार पर देखें तो भारत में 85% पुरुषों के मुकाबले केवल दो-तिहाई महिलाएँ ही साक्षर हैं। जाहिर-सी बात है कि शिक्षित महिलाओं की तादाद और भी कम होगी। एक आकलन के अनुसार दलित, आदिवासी और अतिपिछड़ी जातियों की लड़कियों के स्कूल छोड़ने की दर इस वर्ग के लड़कों के मुकाबले सबसे अधिक है। इसी के साथ ही इनके विवाह की औसत उम्र महज 15 से साल है, जिसके चलते इनके भविष्य की सारी सम्भवनाएँ भी शून्य हो जाती हैं। पिछड़ावर्ग थोड़ा शिक्षित हुआ है, लेकिन आर्थिक क्षमता, तकनीकी जानकारी तक पहुँच और जागरूकता के अभाव में, इस वर्ग-महिलाएँ उच्च वर्ग की महिलाओं से अभी भी बहुत पीछे हैं। विश्वविद्यालयों और सरकारी नौकरियों में इनकी नाममात्र की उपस्थिति से सहज ही अन्दाजा लगाया जा सकता है कि पिछड़ी जाति की महिलाओं की क्या स्थिति है।

इसी तरह से अगर कामकाजी स्तर पर देखें तो दलित, आदिवासी और अतिपिछड़ी महिलाएँ ज्यादातर केवल निचले दर्जे के कामों में ही कार्यरत हैं। पिछड़े वर्ग की महिलाएँ

ऊँचे पदों पर पहुँची हैं लेकिन उनकी गिनती उँगलियों पर की जा सकती है। उच्च वर्ग की महिलाओं की भागीदारी ऊँचे और मध्यम वर्ग के पदों पर ही ज्यादा है। इस वर्ग की महिलाएँ मजदूर और अन्य निचली श्रेणी के कामों में कम ही देखने को मिलती हैं। पिछड़े वर्ग की महिलाएँ सामाजिक बाध्यताओं के चलते घरों में बैठना पसन्द करती हैं, लेकिन एक स्तर के नीचे के काम के लिए खुद को तैयार नहीं कर पाती हैं। इस तरह सामाजिक स्थिति और आर्थिक बाध्यताएँ कामकाजी स्तर को सीधे प्रभावित करती हैं। इस तरह से जहाँ यह सच है कि महिलाओं की सामाजिक, आर्थिक एवं कामकाजी स्थिति तमाम प्रगति एवं बदलावों के बाद भी पुरुषों के मुकाबले बहुत कमतर है, उसी तरह से यह भी सच है कि उच्च सामाजिक, शैक्षिक और आर्थिक स्थिति वाली महिलाओं के मुकाबले दलित, आदिवासी और पिछड़ी महिलाओं की सामाजिक और कामकाजी दशा बहुत ही सोचनीय है। यह आधी आबादी के अन्दर की तीन-चौथाई आबादी की व्यथा है। यह व्यथा आर्थिक और कामकाजी स्तर पर ही नहीं कई और मोर्चों पर साफ-साफ देखी जा सकती है, जैसे न्याय के मोर्चे पर। एक आकलन के अनुसार जेलों में बन्द महिलाओं में दो-तिहाई से भी अधिक दलित, आदिवासी और पिछड़े समुदाय हैं। यह विमर्श दिखाता है कि किस तरह से महिलाओं की आबादी के बीच महिलाओं की सामाजिक और आर्थिक वंचना के कई स्तर हैं। महिलाओं के सामाजिक, आर्थिक और कामकाजी अधिकार के साथ-साथ उनके न्यायिक हक को केवल महिला सशक्तीकरण के एक नारे के साथ नहीं लड़ा जा सकता है। सामाजिक स्थिति और आर्थिक वर्ग के आधार पर, उनकी सशक्तीकरण की लड़ाई को मजबूती देनी होगी, क्योंकि कई बार यह भी सुनने में आता है कि कमजोर और असक्षम महिलाओं के लिए बनाये कानूनों के आधार पर, पढ़ी-लिखी महिलाएँ, न्यायालयों में उसका दुरुपयोग करने लगती हैं, जिससे ऐसे कानूनों की प्रासंगिकता पर भी सवाल उठने लगते हैं। इसलिए महिलाओं के बीच के वर्गीय चरित्र को भी खूब समझना होगा और उसी के अनुसार सामाजिक न्याय और महिला न्याय की नयी आधारशिला रखनी होगी।” □

सांस्कृतिक समता का संघर्ष

आवरण-कथा

संजीव चन्दन

आज 70 सालों के खिलाफ नकारात्मक प्रचार के बीच 1950 में संविधान लागू होने को देखें तो यह स्त्रियों और अन्य वंचितों के हक में एक मील स्तम्भ की तरह है। इसके बाद भारत में समता की दिशा में राज्य के कदम धीरे-धीरे बढ़े ही। संविधान की ताकत के साथ समतावादी आन्दोलनों, पहलों ने भी समाज का स्वरूप बदलना शुरू किया। स्त्री-आन्दोलनों का एक दौर 70 के दशक में शुरू हुआ, जिसने ठोस कानूनी सुधारों के अलावा सांस्कृतिक स्पेस पर भी दावेदारी की। देवराला सतीकाण्ड के बाद स्त्रीवादियों और समतावादियों ने जहाँ पुरजोर विरोध किया वहीं समाज का यथास्थितिवादी तबका इसके पक्ष में खड़ा हुआ।



लेखक स्त्रीकाल पत्रिका के संपादक हैं।
+918130284314
themarginalised@gmail.com



भारतीय उपमहाद्वीप में स्त्रियों के हक में समाज सुधार के कई चरण हैं और कई रूप-आजादी के पहले 18वीं सदी के उत्तरार्ध से शुरू होकर एक दौर 19 वीं सदी के आखिरी वर्षों तक का कहा जा सकता है, स्त्रियों के हक में समाज सुधार की मुहीम देश के सुदूर पूरब से पश्चिम तक फैली थी। इस मुहीम में एक धारा इन सुधारों में जाति-प्रश्न को शामिल नहीं करती थी तो दूसरी धारा अपने विचारों और सुधार की मुहीम में जाति को केन्द्र में रख रही थी। दूसरा दौर आजादी के आन्दोलनों के राजनीतिक-संगठन के रूप में उभरने के साथ शुरू होता है-भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस के जन्म के बाद का दौर समाजिक-राजनीतिक आन्दोलनों में स्त्रियों की सक्रियता का दौर रहा-भारत एक आधुनिक राष्ट्र बनने की ओर उन्मुख था तो स्वाभाविक है स्त्री-प्रश्न अपनी आधुनिकता बोध के साथ नये रूप में सामने आये। राज्य की भूमिका हर प्रकार के समाजिक सुधारों के समर्थन में थी लेकिन समाज इसके लिए धीरे-धीरे तैयार हुआ। एक ओर गाँधी जी ने स्त्रियों को अपने आन्दोलनों में आमन्त्रित कर सामयिक सक्रियता

दी तो दूसरी ओर डॉक्टर अम्बेडकर स्त्रियों को न सिर्फ जाति-जेंडर की जकडन से मुक्ति के लिए आहूत कर रहे थे बल्कि श्रम मन्त्री के रूप में राज्य की भूमिका उनके हित में नियत भी कर रहे थे। इसी दौर में थोड़ी हिचकिचाहट के साथ, लेकिन बिना ज्यादा संघर्ष के, स्त्रियों को पुरुषों के समान मताधिकार भी मिला।

तीसरा दौर संविधान के लागू होने के बाद भारत का अपना दौर है। आज 70 सालों के बरअक्स नकारात्मक प्रचार के बीच 1950 में संविधान लागू होने को देखें तो यह स्त्रियों और अन्य वंचितों के हक में एक मील स्तम्भ की तरह है। इसके बाद भारत में समता की दिशा में राज्य के कदम धीरे-धीरे बढ़े ही संविधान की ताकत के साथ समतावादी आन्दोलनों, पहलों ने भी समाज का स्वरूप बदलना शुरू किया। स्त्री-आन्दोलनों का एक दौर 70 के दशक में शुरू हुआ, जिसने ठोस कानूनी सुधारों के अलावा सांस्कृतिक स्पेस पर भी दावेदारी की। देवराला सतीकाण्ड के बाद स्त्रीवादियों और समतावादियों ने जहाँ पुरजोर विरोध किया वहीं समाज का

यथास्थितिवादी तबका इसके पक्ष में खड़ा हुआ। यथास्थितिवाद की प्रतिक्रियाएँ यथावत थीं लेकिन स्त्रीवादी आवाजों से उनके हौसले पस्त होते हैं। आज सती की कोई दूसरी घटना उसके बाद उस स्तर पर महिमामंडित नहीं हुई। 9वें दशक के आखिरी वर्षों में शाहबानो के तलाक और मेटेनेंस का मामला जितना कानूनी था उतना ही मुस्लिम समाज में सांस्कृतिक समता को भी लक्ष्य करता था। राज्य की भूमिका हालाँकि यहाँ समग्रता में समझी जानी चाहिए—एक ओर उसका एक अंग यानी न्यायपालिका समता की ओर उन्मुख थी, मुस्लिम स्त्रियों के हक में थी तो दूसरी ओर कार्यपालिका विधायिका को प्रभावित करते हुए यथास्थितिवादी मुसलमानों के हक में खड़ी हुई। फिर भी औरतों की आवाज और उनके संघर्ष के रूप में शाहबानो और उसके स्त्रीवादी समर्थकों का संघर्ष दर्ज हुआ।

पिछले दिनों तमाम नकारात्मकता और राज्य पर खुद यथास्थितिवादियों के कब्जे के बावजूद स्त्रियों के हक में दो बुलंद आवाजों को सांस्कृतिक-सामाजिक स्पेस पर उनकी दावेदारी के रूप में देखा जाना चाहिए। एक आवाज है तीन तलाक के खिलाफ मुस्लिम महिलाओं और सगठनों की आवाज और दूसरी सबरीमला में प्रवेश का संघर्ष। मुस्लिम महिलायें तीन बार तलाक बोलकर तलाक दिये जाने के खिलाफ एक कानून बनाने की मांग कर रही थीं, जिसका मुसलमानों का यथास्थितिवादी तबका मजहबी मामले की आड़ में मुखालफत कर रहा था। इस बीच जब केन्द्र की सत्ता पर हिन्दू यथास्थितिवाद के तर्कों के साथ खड़े लोग काबिज हुए तो मुस्लिम महिलाओं की ये मांगें उनके एजेंडा के अनुरूप दिखीं इसलिए वे इसके लिए प्रेरित हुए—इस बार भी परन्तु किसी भी कारणवश राज्य की भूमिका स्त्रियों के हक में सैद्धान्तिक रूप से दिखी जरूर। हालाँकि सत्ता पर काबिज लोगों को मुस्लिम महिलाओं की मांगों से ज्यादा रुचि हिन्दुओं के सामने मुसलमानों को एक 'बुरे दूसरे समूह' की छवि देने में ज्यादा रही है। सवाल उनकी नियत पर उठना लाजिम था, उठा भी। हालाँकि वे तीन तलाक के खिलाफ का अध्यादेश लाते रहे लेकिन अन्तिम रूप से इसे कानून की शक्ल नहीं दे सके, क्योंकि तीन तलाक बिल लोकसभा में तो पारित हुए लेकिन राज्यसभा

में पारित न होने के कारण बिल स्वतः निरस्त हो गया। तीन तलाक बिल का प्रारूप भी एक खास नियत वाली सरकार द्वारा बनाया गया प्रारूप था—जिसे अपने आप में मुस्लिम समूह के प्रति होस्टाइल प्रारूप होना ही था। इस बिल का स्वाभाविक विरोध हुआ। अब आगे चुनी हुई सरकार की नीति और नियत पर मुस्लिम महिलाओं के संघर्ष का हासिल टल गया। हालाँकि इन लड़ाइयों का एक हासिल यह भी है कि ये समाज में चिन्तन का एक विषय छोड़ जाती हैं और निरन्तर आधुनिक होता समूह इसे अंजाम तक ले जाने के लिए उद्वेलित होता है। बहुत कम ही सही लेकिन मुस्लिम महिलाओं को भी हम समान आचार संहिता की बात करते हुए भी देख सकते हैं। यानी समूहों की निजता के नाम पर पुरुषों के समाजिक-सांस्कृतिक वर्चस्व को स्थापित करने वाली सोच भी प्रश्नांकित हो रही है।

हिन्दू स्त्रियों द्वारा सांस्कृतिक-समता का संघर्ष केरल के सबरीमाला में हुआ। इसके लिए कानूनी लड़ाइयाँ लड़ी गयीं। मन्दिर में रजस्वला होने की उम्र तक की स्त्री (10 से 55 उम्र तक की स्त्री) का प्रवेश-निषेध महिलाओं के साथ जेंडर आधारित विभेद तो था ही साथ ही इसमें बहुत पहले ही गैरकानूनी करार दिया गया छुआछूत भी अपना काम कर रहा था। उच्चतम न्यायालय ने बहुमत से मन्दिर प्रवेश के इस निषेध को गैरकानूनी करार दिया। और जैसा होता आया है यथास्थितिवादियों ने इस निर्णय का न सिर्फ विरोध किया बल्कि यह भी सुनिश्चित करने की कोशिश की कि निषिद्ध उम्र की महिलायें कानूनन अधिकार प्राप्त कर मन्दिर में दाखिल न हों। इस जमात को इस तथ्य से भी कोई लेना-देना नहीं था कि इस मन्दिर में यह विभेदकारी व्यवस्था हमेशा से नहीं रही है। समता के इस संघर्ष को लेकर राज्य की भूमिका पुनः वंचितों के पक्ष में थी—एक ओर न्यायपालिका उनके अनुकूल थी तो दूसरी ओर कार्यपालिका आदेश को लागू कराने के लिए बाध्य और प्रतिबद्ध। हालाँकि सत्ता पर काबिज यथास्थितिवादी जमातों का स्टैंड यहाँ मुसलमान महिलाओं के हक में उनके क्रान्तिकारी तेवर के ठीक विपरीत था। सत्तारूढ़ पार्टी भाजपा अपनी निजी हैसियत में उच्चतम न्यायालय के फैसले को न लागू होने देने के लिए कटिबद्ध लोगों

के न सिर्फ साथ दिखी बल्कि उन्हें उकसाती हुई और संगठित करती हुई दिखी। खुद प्रधानमन्त्री की दोहरी भूमिका और कथन सामने आये—सबरीमाला मामले को परम्परा और तीन तलाक के खिलाफ कानून को उन्होंने जेंडर-समानता का अलग-अलग मुद्दा बताया। हालाँकि राज्य सैद्धान्तिक तौर पर उच्चतम न्यायालय के फैसले के खिलाफ नहीं जा सका।

संविधान के दायरे में, संविधान की संरक्षा में स्त्रियों की सामाजिक-सांस्कृतिक बराबरी के लक्ष्य इन्हीं प्रयासों के जरिये हासिल किये जाने की कोशिश होती रही है और हम निरन्तर एक आधुनिक एवं समता-उन्मुखी समाज के रूप में उभर भी रहे हैं। इन्हीं दिनों एक चिह्नित किया जाने वाला फैसला उच्चतम न्यायालय से हासिल किया गया—वह था धारा 497 का उन्मूलन। व्यभिचार के मामले में प्रायः न इस्तेमाल होने वाली यह धारा कानून की किताबों में रहकर स्त्रियों के सांस्कृतिक स्तर पर दोगम दर्जे की होने की धारणा को पुष्ट कर रही थी। इसके होने से स्त्री के पुरुषों की सम्पत्ति समझे जाने को कानूनन वैधता मिल रही थी। इस धारा के अनुसार कोई भी व्यभिचार व्यभिचार तबतक है जबतक इसमें शामिल स्त्री के पति को कोई आपत्ति हो अन्यथा व्यभिचार व्यभिचार नहीं होगा और दूसरे पक्ष की यानी शामिल पुरुष की पत्नी इस मामले में कोई कानूनी पहल भी नहीं कर सकती थी। कानूनी पहल का हक भी उस पति को ही होता था जिसे अपनी पत्नी के व्यभिचार पर ऐतराज हो।

कानून और संघर्षों के जरिये स्त्रियाँ आज यदि अपनी सांस्कृतिक-सामाजिक स्पेस पर दावेदारी कर रही हैं तो उस दावेदारी का दृश्य भी बदला है। सुधार आन्दोलनों के पहले चरण से अलग स्त्रियाँ खुद पहल ले रही हैं। इसकी शुरुआत भारत में स्त्रीवादी आन्दोलनों के साथ शुरू हो गयी थी। आज सबरीमाला में प्रवेश का प्रयास करती महिलाओं का संघर्ष देखा जा सकता है और उनके समर्थन में एक दिन में लाखों महिलायें मानव श्रृंखला बनाकर खड़ी भी होती हैं। यह दृश्य संविधान से संचालित भारत का एक सकारात्मक हासिल है और 70 सालों की कथित विफलता के जुमले को निरस्त भी करता है।

□

देवदासी प्रथा का कलंक

आवरण-कथा

प्रमोद मीणा

वैसे परम्परागत परिवार व्यवस्था से बाहर रहने और सत्ता के केन्द्र रहे मन्दिरों से सम्बद्ध होने के कारण तत्कालीन पुंसवादी समाज में घरेलू स्त्रियों की अपेक्षा इन्हें किंचित स्वतन्त्रता भी शायद रही होगी। किन्तु ईश्वर के पूजा स्थलों में भी देवदासियाँ जातीय स्तर पर भेद से अछूती न थीं। अपनी जाति के अनुसार उनके दायित्वों में हमें विविधता और स्तर भेद नजर आता है। दलित जातियों की देवदासियों को मन्दिर की साफ-सफाई जैसे सेवा कर्म ही करने होते थे। बड़े स्थापित मन्दिरों में उन्हें स्थान नहीं मिल पाता था और वे छोटी जातियों के मन्दिरों में ही आश्रय पा सकती थीं।



लेखक महात्मा गाँधी केन्द्रीय विश्वविद्यालय, मोतिहारी के मानविकी और भाषा संकाय में सहआचार्य हैं।
+917320920958
pramodmeena@mgcub.ac.in



भारतीय संस्कृति की कथित महानता के नाम पर घनघोर ब्राह्मणवादी ग्रन्थ तक से उद्धृत की जाने वाली 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता' जैसी पंक्तियों की उलटबांसी की कलई उस समय खुल जाती है जब हम छोटी-छोटी बच्चियों को धार्मिक परम्परा के नाम पर देवदासियों के रूप में मन्दिरों के 'देवताओं' को समर्पित किये जाने की अति प्राचीन परम्परा अपने देश में पाते हैं। जनपद काल में राज्य द्वारा नगरवधू के रूप में सुन्दर युवती को सार्वजनिक सम्पत्ति बना देने की जो प्राचीन प्रथा वेश्यावृत्ति को राजकीय वैधता दिलाती थी, देवदासी प्रथा को उसी नगरवधू प्रथा का धार्मिक संस्करण कहा जा सकता है। इस घनघोर स्त्री-विरोधी परम्परा को जाति व्यवस्था के दलित विरोधी मनुवादी स्तरीकरण से भी समर्थन प्राप्त रहा है। देवदासी प्रथा के केन्द्र रहे मन्दिरों के बारे में यह भी नहीं भूला जा सकता कि मन्दिर की पूरी व्यवस्था ब्राह्मणों के वर्चस्व में रही है और इस देवदासी प्रथा को भी ब्राह्मणों की इस पूरी व्यवस्था का अनुमोदन प्राप्त रहा है। प्राचीन और मध्य कालीन भारत से लेकर उत्तर औपनिवेशिक

काल में आज तक भी देवदासी प्रथा देश के विभिन्न हिस्सों में खासकर कर्नाटक तमिलनाडु आन्ध्रप्रदेश और महाराष्ट्र आदि में चली आ रही है। देवदासी प्रथा की प्रकृति और देवदासियों के लिए परम्परागत रूप से निर्दिष्ट कर्तव्यों में गुजरते वक्त के साथ काफी बदलाव तो आये हैं किन्तु खेद की बात है कि आजादी के इतने सालों के बाद भी देश के कुछ इलाकों में, विशेषतः दक्षिण भारत में आज भी यह कुप्रथा फल-फूल रही है।

जैसे जैसे मन्दिरों को संरक्षण देने वाली सामन्ती व्यवस्था औपनिवेशिक काल में कमजोर होती गयी वैसे-वैसे देवदासियों के परम्परागत कार्यक्षेत्र में भी बदलाव आता गया। पुरुष की सार्वजनिक भोग्या होने पर भी मन्दिर से सम्बद्धता के कारण इन्हें प्राप्त मांगलिकता के चलते घरों की निजी दुनिया में भी समारोहों में आनुष्ठानिक कर्तव्यों को निभाने के लिए बुलाया जाने लगा। इसी प्रकार त्यौहारों के मौकों पर भी विभिन्न रिवाजों के क्रियान्वयन के अवसर इन्हें मिलने लगे।

दक्षिण भारत में नीची जातियों से आने वाली जोगती, जोगिनी एवं बसावी जैसी

देवदासियों को दलित देवी येलम्माओं के मन्दिर में ही आश्रय मिल पाता था। धार्मिक त्यौहारों के अवसर पर ये दलित देवदासियाँ भी सवर्ण देवदासियों की देखा-देखी कुछ आनुष्ठानिक कृत्यों में शामिल रहती थीं। भूत बाधा से मुक्ति दिलाने के ओझाई कार्य से लेकर धार्मिक जुलूस और अन्तिम यात्रा में नृत्य करने का काम भी इन्हें करते देखा जा सकता था।

औपनिवेशिक काल में अंग्रेजी ढंग की शिक्षा से प्रेरित हो हमारे यहाँ चले सामाजिक और धार्मिक सुधार आन्दोलनों के कारण ऊँची जातियों में लड़कियों को देवदासी बनाने की धार्मिक प्रथा पर काफी हद तक लगाम लगा लेकिन इन सुधार आन्दोलनों के ब्राह्मणवादी चरित्र के कारण नीची जातियों से देवदासी बनने की धार्मिक परम्परा आज भी बदस्तूर जारी है। उदाहरण के लिए कर्नाटक में अधिकांश देवदासियाँ मडिगा और होलिया जैसी अस्पृश्य अनुसूचित जातियों से आती हैं। दलित लड़कियों के देवदासी बनने के पीछे है उनके परिजनों और रिश्तेदारों आदि में व्याप्त अशिक्षा, गरीबी और अन्धविश्वास तथा साथ ही लड़की को बोझ समझे जाने की पिछड़ी पुंसवादी सोच। शिक्षा के अभाव के कारण देवदासी बनने के लिए मासूम बच्चियों को देवी-देवता को अर्पित करने का अन्धविश्वास सामाजिक-सांस्कृतिक रूप से पिछड़े दलित समाजों में आम है। दैहिक व्याधि आदि से पीड़ित लड़कियों का गरीबी के कारण इलाज न करा पाने पर उनसे छुटकारा पाने के लिए भी उनके माँ-बाप देवदासी बनाने की धार्मिक मान्यता का सहारा लेते पाये जाते हैं। दहेज आदि के कारण अपनी बेटी का विवाह करने में अक्षम परिजन भी बेटी का हाथ पीला न कर पाने की बदनामी से बचने के लिए देवदासी प्रथा का सहारा लेते हैं। कोई मनोकामना पूर्ण होने पर बेटी को मन्दिर के देवी-देवता को सौंप देना भी एक सामान्य परिदृश्य है। ऊँची जातियों के वर्चस्व वाले ग्रामीण इलाकों में दलित लड़कियों के देवदासी बनने के पीछे ऊँची जातियों के दबंगों का दबाव भी पाया जाता है। दबंग जाति के लोग दलित लड़की का उपभोग करने के बाद बलपूर्वक उसे देवदासी व्यवस्था में धकेल देते हैं ताकि वह विवाह न कर सके। ऐसी अविवाहित दलित स्त्री का बारम्बार इस्तेमाल

करना दबंगों के लिए आसान रहता है। देवदासी प्रथा के बहाने दलित युवतियों को ये लोग वेश्यावृत्ति के दलदल में भी धकेल देते हैं।

सदियों से दलित युवतियाँ सवर्णों की देह वासना की भेंट चढ़ती आयी हैं। कभी देवदासी जैसी स्त्रीविरोधी प्रथा को बनाये रखने के नाम पर तो कभी दलितों की दीन-हीन दशा का फायदा उठाकर उच्च जातियाँ उनकी इज्जत को सरे आम नीलाम करती आयी हैं। वी. एस.सांगा निर्देशित (1984) फिल्म सवर्ण समाज द्वारा धर्म के नाम दलितों पर लादी गयी देवदासी प्रथा और वेश्या वृत्ति को अपना विषय बनाती है। फिल्म की कहानी मुम्बई के पास स्थित महाराष्ट्र के एक गाँव से सम्बद्ध है। गाँव के हरिजन, दलितों में श्येलम्मा नामक दलित देवी की बड़ी प्रतिष्ठा है। येलम्मा को खुश करने के लिए दलितों में अपनी बच्चियों को देवी की सेवा में सौंपने की प्रथा है। इस परम्परा को मोती पहनाना कहा जाता है। विवाह के खर्च से बचने के लिए दलित अपनी बच्चियों को येलम्मा को सौंप देते हैं। मोती पहनने वाली लड़की का फिर विवाह नहीं किया जाता। देसाई और पाटिल जैसी सवर्ण जातियों के धनी और दबंग लोग मोती पहनाने की प्रथा का इस्तेमाल गाँव की दलित लड़कियों को खरीदने के लिए करते हैं। इन लड़कियों की देह को चूसने के बाद इन्हें मुम्बई के वेश्यालयों में बेच दिया जाता है। वीरूपन्ना जैसे दलित लोग भी इस पेशे में दलाली करते हैं। फिल्म में देसाई करियम्मा को येलम्मा की इच्छा का डर दिखाकर उसकी बेटी चेलम्मा को मोती पहनाने के लिए बाध्य कर देता है। दलितों में येलम्मा का इतना डर और अन्धविश्वास है कि देसाई के खेतों में पानी न निकलने का कारण येलम्मा की नाराजगी से जोड़ा जाता है।

जैसा कि पूर्व में कहा गया है; देवदासी प्रथा धर्म की आड़ में चलाई जाने वाली एक प्रकार की वेश्यावृत्ति रही थी जिसमें देवदासी की स्थिति एक वेश्या से भी बदतर थी क्योंकि वेश्या को तो अपने शरीर के बदले कुछ आय हो जाती है और वह अपनी देह बेचने से इनकार भी कर सकती है किन्तु देवदासी को तो मुफ्त में ही सामन्त वर्ग की हवस शान्त करनी होती थी और उसकी इच्छा-अनिच्छा की परवाह भी प्रायः कोई करने को बाध्य

न था। वैसे व्यवहार में आज अक्सर देवदासी की स्थिति सार्वजनिक सम्पत्ति जैसी न होकर रखैल जैसी पाई जाती है। उनके संरक्षक प्रायः विवाहित पुरुष होते हैं और वह तभी तक उनकी कृपा की हकदार रहती है जब तक वह उनके आकर्षण का विषय रहती है। ये रखैल देवदासियाँ बूढ़ी और बीमार हो जाने पर दूध में पड़ी मक्खी की जैसे अपने संरक्षक के द्वारा उपेक्षित कर दी जाती हैं।

अपने पालन-पोषक पुरुष से इन देवदासियों के जो बच्चे होते हैं उन्हें भी जीवन भर अवैध सन्तान होने की पीड़ा भोगनी पड़ती है। यद्यपि इलाके के सारे लोग अच्छे से जानते हैं कि इन अवैध बच्चों के वास्तविक पिता कौन हैं किन्तु इनके पिता अपवाद स्वरूप ही इन्हें अपनाते पाये जाते हैं। आँखों के सामने होने पर भी इन बच्चों के लिए वे पिता मृतक समान ही कहे जायेंगे क्योंकि ये बच्चे अपने पिता को पिता नहीं कह सकते। सरकारी दस्तावेजों में इन्हें इनकी माँओं के नाम से ही जाना जाता है। वैध वारिस के रूप में मान्यता न होने से इन्हें अपने पिता की सम्पत्ति में से किसी प्रकार का कोई हिस्सा भी नहीं मिल पाता।

अस्तु स्त्री सशक्तिकरण के नाम पर भारतीय संस्कृति का बचाव करने वाले सांस्कृतिक राष्ट्रवादियों को समझना होगा कि देवदासी प्रथा के अस्तित्व से आँखें मोड़ लेने से धर्म के नाम पर चलने वाली भारतीय स्त्री की यौन दासता की सच्चाई छिप नहीं सकती। देवदासी प्रथा हिन्दू धर्म के लिए गौरव की बात नहीं अपितु कलंक की बात है। सरकार को भी समझना होगा कि देश भर में देवदासियों की वास्तविक संख्या का पता लगाकर उनका पुनर्वास आवश्यक है और देवदासी प्रथा पर पूर्ण रोकथाम के लिए सामाजिक जागरूकता के साथ-साथ कठोर दण्डात्मक कार्रवाई भी जरूरी है। देवदासियों के बच्चों को भी उनका वाजिब हक मिलना चाहिए। देवदासी प्रथा पर रोकथाम के लिए समुचित कानून भी बनाना होगा। कर्नाटक आदि में कुछ राज्यों में देवदासी प्रथा विरोधी कानून होने पर भी यह प्रथा अगर फल-फूल रही है तो यह तय है कि प्रचलित कानून में कुछ गम्भीर खामियाँ हैं जिन्हें दुरुस्त करना जरूरी है।

□

महिला संघर्ष जुदा नहीं

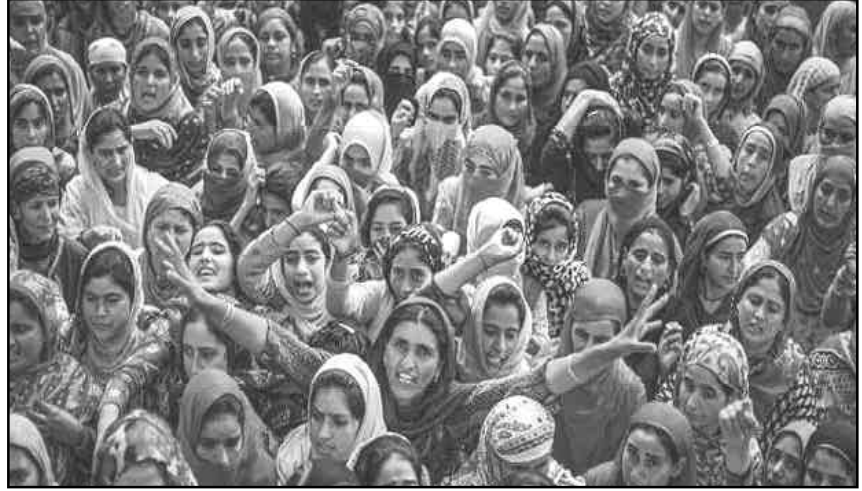
आवरण-कथा

कामायनी स्वामी

आज से महज डेढ़ सौ साल पहले जब सावित्री बाई और उनकी साथी फातिमा शेख बच्चियों को पढ़ाने निकलीं तो समाज ने पुरजोर विरोध किया। पूरी दुनिया में उस समय महिलाओं को वोट का अधिकार नहीं मिला था पर आज दुनिया बदली है आज बच्चियाँ धड़ल्ले से पढ़ने जाती हैं, कानूनन महिलाओं को भी सम्पत्ति और वोट का अधिकार है, यानि चीजे बदलती हैं और लगातार बेहतर होती हैं, जरूरत है निरन्तर संघर्ष की, व्यक्तिगत हौसले के साथ साथ सामूहिक पहल की।



लेखिका जन जागरण शक्ति संगठन और एनएपीएम से जुड़ कर सामाजिक बदलाव का काम करती हैं।
+919771950248
kamayani02@yahoo.com



रोजमर्रा की लड़ाई : आज जब दुनिया महिला पुरुष के इस बाइनरी से बाहर निकल रही है तब सिर्फ महिलाओं के संघर्ष पर बात करना कुछ बेमानी सा महसूस होता है। पर अगर 21वीं शताब्दी के दूसरे दशक में भी हमें यह संघर्ष दिख रहा है तो स्पष्ट है कि कितना जरूरी है यह संघर्ष और कितनी कठिन है यह राह महिला समता की। संघर्ष कई स्तरों पर है, अपने से, परिवार से, समाज से...संघर्ष हर उस जगह से है जहाँ पितृसत्ता स्थापित हो गयी है। और पितृसत्ता तो वह हस्ती है जो सर्वव्यापी है-वह आप में है, वह मुझ में है, वह हम सब में व्यक्तिगत रूप से है और सामूहिक रूप से है...सर्व विद्यमान...

“वह चले गये थे, माँ ने तीन बेटियों को जन्म दिया था, उन्हें लगता था माँ उन्हें कभी बेटा नहीं देगी...बचपन में मुझे यही याद है कि वह आते थे तो शराब के नशे में धुत माँ की सारी कमाई छीन कर ले जाते थे। आज हमें खाना मिला तो कल नहीं...” ये शब्द हैं उस बेटे के जो ऐसे बचपन के बावजूद आज अपना घर चला रही है, अट्टारह

साल की उम्र में अपने पैरों पर खड़ी है। “...अरे तुम यह गीत लिख रही हो? पर तुम तो कहती थी तुम पढ़ना नहीं जानती? हाँ सालों पहले स्कूल गयी थी पर चूल्हे चौके और बच्चों के लालन पालन में सब भूल गयी...” यह है एक अधेड़ उम्र की यूनियन की महिला मजदूर साथी जिसे एक हार्ट सर्जरी के बाद घर के काम से कुछ छुट्टी मिली। “... अपने 16 साल की बेटे की शादी यह कह कर कर देना कि वह 18 की है, हम सबसे बड़मानी है... और आप जो पिछली ही बार यह कहते कहते रो पड़ी थीं कि आप पढ़ाई में अच्छी थीं पर भाइयों ने पढ़ाई बन्द करा कर जबरन शादी करा दी।” “...हाँ मैं यह नहीं चाहती थी पर पूरे समाज से कैसे लडूँ ?” ...यह है अधेड़ उम्र की यूनियन की महिला मजदूर साथी जिसने अपनी पहली बेटे की शादी कम उम्र में करा दी पर आज अपनी छोटी बेटे को पढ़ा रही हैं।

ये हैं हमारे संघर्षों की कहानियाँ, इन में कोई क्रान्ति प्रतीत नहीं होती पर हैं ये हम साधारण महिलाओं के संघर्ष, बेनाम गुमनाम

जिन्दगियों के संघर्ष, हर उस महिला कार्यकर्ता का संघर्ष जो जत्थों के जत्थों का नेतृत्व करती है पर घर में जिसकी कोई बिसात नहीं। घर, जहाँ वह अपनी लड़ाईयाँ चुनती हैं, जहाँ अपनी दासता के प्रतीक को माथे और हाथों में चमका कर वह बाहर जाने की आजादी खरीदती हैं, जहाँ वह घरेलू काम का बोझ अपने से कमजोर के कन्धे पर डाल कर घर की दहलीज से बाहर कदम रखती हैं...इन गुमनाम संघर्षों में, इन छोटी छोटी लड़ाईयों में संघर्ष कम और रोज की घिच घिच ज्यादा है। इन में एक पूरे समाज की सड़ोँध है।

महिला आन्दोलन की महिला नेत्री :

पर बावजूद इन रोज मर्रा के संघर्षों के महिला आन्दोलन विकसित हुआ, और बड़ी संख्या में महिला नेतृत्व उभर कर सामने आया। डॉ. आम्बेडकर और ज्योतिबा फुले के साथ आज सावित्री बाई फुले भी हमारे प्रेरणा स्रोतों में एक हैं। जहाँ एक तरफ 8 मार्च अन्तर्राष्ट्रीय महिला दिवस के रूप में मनाया जाता है वहीं 3 जनवरी से 10 मार्च की अपनी एक पहचान बनी है। सावित्री बाई फुले के जन्मोत्सव से पुण्यतिथि तक पूरे देश में उनके विचारों से प्रेरणा ली जाती है।

हाल में अमेरिका में एक नया प्रतीक विकसित हुआ जब दलित इतिहास सप्ताह मनाते वहाँ के एक्टिविस्टों ने डॉ. आम्बेडकर, सावित्री बाई के साथ साथ फूलन देवी के चित्र को अपने प्रतीक के रूप में सबके सामने रखा।

रोज दिन नये-नये रूप में महिला आन्दोलन अपने मुद्दों को उठाती है चाहे 2012 में निर्भया काण्ड के बाद हुआ स्वतःस्फूर्त आन्दोलन रहा हो या फिर हाल की 'मी टू' की पहल हो या कॉलेज के छात्रों द्वारा किया गया पिंजरा तोड़। सब वही बात कह रहे हैं-हमें आजादी चाहिए, शोषण से, यौनिक अत्याचार से, भय से। इन सब पहल की खूबसूरती यह है कि यहाँ नेतृत्व भी महिलाओं का ही रहा है।

आज से महज डेढ़ सौ साल पहले जब सावित्री बाई और उनकी साथी फातिमा शेख बच्चियों को पढ़ाने निकलीं तो समाज ने पुरजोर विरोध किया। पूरी दुनिया में उस समय महिलाओं को वोट का अधिकार नहीं मिला था पर आज दुनिया बदली है आज बच्चियाँ धड़ल्ले से पढ़ने जाती हैं, कानून महिलाओं

को भी सम्पत्ति और वोट का अधिकार है, यानि चीजें बदलती हैं और लगातार बेहतर होती हैं, जरूरत है निरन्तर संघर्ष की, व्यक्तिगत हौसले के साथ साथ सामूहिक पहल की।

पर इसका यह अर्थ नहीं कि महिला संघर्ष अब समाप्त है। आज भी बच्चियों को कोख में मारा जाता है, दहेज जैसी कुरीतियाँ चलन में हैं। साथ ही नये नये तरह के शोषण और सीमाएँ भी बनाई जा रही हैं। भले ही आज बड़ी बड़ी कम्पनियों की सी.ई.ओ. महिलाएँ मिलेंगी पर यह अभी भी कम है और इन महिला इन्टरप्रेन्योर के लिए बराबरी अभी भी एक सपना ही है।

सब संघर्षों के तार जुड़े हैं : महिला आन्दोलन ने इस बात को शुरुआत से ही समझा है कि उनकी लड़ाई महिलाओं को इन्सान का दर्जा दिलाने की है। उनका संघर्ष उन तमाम संघर्षों से जुदा नहीं है जो इन्सान के शोषण के खिलाफ है। यदि थोड़ा खोजें तो पता चलेगा की अन्तरराष्ट्रीय महिला दिवस की शुरुआत महिला मजदूरों के पहले संघर्ष से शुरू होती है जहाँ अमेरिका में महिला कामगारों ने बेहतर काम की शर्तों और मजदूरी के लिए अपनी आवाज उठाई और इसी तरह शान्ति और रोटी के लिए महिलाओं ने प्रथम विश्व युद्ध की पृष्ठभूमि में पहला विश्व्यापी आन्दोलन किया।

आज जब पहचान आधारित आन्दोलन जोरों पर है तब महिलाओं के संघर्ष की इस सीख को याद रखना बहुत जरूरी है कि महिलाओं का आन्दोलन दुनिया भर में मेहनतकश, दलित, बहुजन, मूलनिवासियों और हर तरह के अल्पसंख्यकों के आन्दोलन के साथ जुड़ा है। समझना यह है कि महिलाओं का संघर्ष सभी दबे कुचले पिछड़ों के संघर्ष से जुड़ा है, जुदा नहीं। सभी प्रगतिशील आन्दोलनों में भी यह चेतना जगानी होगी कि बिना महिलाओं की भागीदारी और बिना नारीवादी सिद्धान्तों को आत्मसात किये उनके उद्देश्यों की पूर्ति नहीं हो सकती। आज जरूरत है नारीवाद, गाँधीवाद, समाजवाद, साम्यवाद के तारों को जोड़ कर एक ऐसे वाद को लेकर चलने की जो हमें निरन्तर संघर्ष के लिए प्रेरित करे। □

सबलोग के महत्त्वपूर्ण अंक

लोकतन्त्र और आतंकवाद

महात्मा का हिन्द स्वराज

भाषा, विचार और लोकतन्त्र

आम आदमी और खाद्यान्न संकट

बिहार का सच और संकट

नक्सलवाद और राजसत्ता

उच्च शिक्षा का बाजारीकरण

आधी आबादी का संघर्ष

जाति का जहर

मीडिया का छल

भारत में मुसलमान

आदिवासियत पर आँच

अरब में लोकतन्त्र की आहट

भ्रष्टाचार के इस भीषण दौर में

साम्राज्यवाद बनाम स्वराज

पंचायती राज की मुश्किलें

यौन हिंसा के विरोध में

अभिव्यक्ति, आजादी और अराजकता

भाजपा का भय

तीसरा मोर्चा का भविष्य

भारत में जन आन्दोलन

नयी सरकार की चुनौतियाँ

50वें साल में हरियाणा

अभिव्यक्ति, सरकार और सरोकार

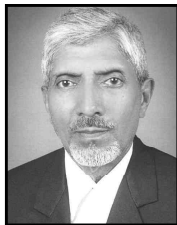
sablogmonthly@gmail.com

तीन तलाक पर एक टिप्पणी

आवरण-कथा

मोहम्मद अब्दुल बाकी

इस्लामी शरीयत कुआनी तालीम, पति को तलाक और महिला पत्नी को 'खोला' लेने अर्थात पति से अपने वैवाहिक सम्बन्ध समाप्त कर लेने का अधिकार देती है और उनके अधिकारों के सम्बन्ध में अल्लाह का ये आदेश है कि 'औरतों का, दस्तूर-रिवाज के अनुसार, पुरुषों पर उतना ही हक्-अधिकार है जितना पुरुषों का उन पर अर्थात महिला पर' (पवित्र कुरआन सुरह बकराह आयत न-229) महिलाओं को भी वैसा ही अधिकार प्राप्त है जैसा कि मर्दों को, उन दोनों में कोई अन्तर नहीं है।



लेखक पूर्व न्यायाधीश हैं।
+919431071723
mohammad.abdul.baqui@gmail.com



आजकल हमारे देश भारत में एक समय में तीन बार तलाक चर्चा का विषय बना हुआ है, और यह सवाल उठाया जा रहा है कि अगर कोई मुसलमान मर्द अपनी बीबी को एक ही समय में "तलाक, तलाक, तलाक कह दे तो क्या ऐसा तलाक सही और जायज होगा?" पश्चाताप के बाद पुनः पूर्व वैवाहिक सम्बन्ध बनाने का मर्द को अधिकार नहीं होगा?"

पूर्व इसके कि अहमदिया मुस्लिम समुदाय का इस सम्बन्ध में विचार या अकीदा बताया जाये, इस समुदाय के विचार के अनुसार यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि इस्लाम पवित्र कुआन, सुन्नत और हजरत मोहम्मद साहेब की कुआन से मेल रखने वाली हदीशों पर आधारित है, अर्थात प्रत्येक समस्या का समाधान इन्हीं तीन चीजों से निकाला जाना है। तलाक के सम्बन्ध में इस्लाम के स्थापक हजरत मोहम्मद साहेब का कथन है-कि "हलाल चीजों में सबसे ज्यादा नापसन्द किये जाने वाली चीज, तलाक है।"

प्रतिदिन हम देखते हैं कि अगर किसी डायबिटीज के मरीज, जिस की टाँग में गैंग्रीन हो जाए, और डॉक्टर उसे आवश्यक रूप से

टाँग कटवाने की सलाह दे, इसलिए कि उसका पूरा शरीर प्रभावित होगा, तो मरीज मजबूरन टाँग कटवा लेता है। उसी प्रकार पुरुष-महिला की वैवाहिक जीवन भी एक शरीर की तरह है कि जब दोनों कोई ऐसी अवस्था को पहुँच जाते हैं कि दोनों का एक-दूसरे के साथ जीवन बिताना कठिन हो जाए और दोनों का एक-दूसरे से अलग हो जाना आवश्यक हो जाए, तो ऐसी अवस्था में इस्लाम ने तलाक अर्थात एक दूसरे से वैवाहिक सम्बन्ध-विच्छेद कर लेने की अनुमति दी है।

इस्लामी शरीयत कुआनी तालीम, पति को तलाक और महिला पत्नी को "खोला" लेने अर्थात पति से अपने वैवाहिक सम्बन्ध समाप्त कर लेने का अधिकार देती है और उनके अधिकारों के सम्बन्ध में अल्लाह का ये आदेश है कि "औरतों का, दस्तूर-रिवाज के अनुसार, पुरुषों पर उतना ही हक्-अधिकार है जितना पुरुषों का उन पर अर्थात महिला पर" (पवित्र कुआन सुरह बकराह आयत न-229)

महिलाओं को भी वैसा ही अधिकार प्राप्त है जैसा कि मर्दों को उन दोनों में कोई अन्तर नहीं है। अल्लाह ने जिस प्रकार पुरुषों

और महिलाओं को एक समान आदेश दिया है, उसी प्रकार वे एक समान पुरस्कृत भी करते हैं।

उक्त दोनों विषयों को स्पष्ट करने के बाद विश्व व्यापी अहमदिया मुस्लिम समुदाय पवित्र कुरआन, सुन्नत और हज़रत मोहम्मद साहेब के हदीशों की रोशनी में यह विश्वास रखता है कि एक ही समय में तीन बार 'तलाक, तलाक तलाक' कहना एक ही तलाक समझा जाएगा और उस समय तलाक देने वाले मर्द (पति) का पूरे होश व हवाश में होना, किसी प्रकार के अनावश्यक क्रोध व पीड़ा से मुक्त होना तथा दो गवाहों के सामने अपनी पत्नी को तलाक देना आवश्यक है जिसके बाद ही वह पहला तलाक समझी जाएगा। पर पश्चाताप होने पर तथा चाहने पर रोज़ुअ हो सकता है। इसकी दलील यह दी गई है कि अल्लाह तआला पवित्र कुरान में फरमाता है कि 'ऐसा तलाक जिसमें रोज़ुअ अर्थात् पुनर्सम्बन्ध स्थापन हो सके, दो बार सम्भव है, फिर या तो उचित रूप से पत्नी को रोक लेना है या हुस्नए सुलुक (सौहार्दपूर्ण ढंग से) विदा कर देना है' (पवित्र कुरआन सुरह बकराह आयत न.-230)

कुरआन की तालीम से स्पष्ट है कि तीन तलाकों अलग-अलग तीन बार तीन महीनों के निश्चित अवधि में देने होंगे। एक ही समय में तीन तलाक कुरआनी आदेश की खुल्लमखुल्ला अवहेलना होगा।

इसी प्रकार हदीश में लिखा है कि हज़रत मोहम्मद साहेब के पवित्र समयकाल में एक सहाबी अनुयायी रोकाना ने एक ही बैठक में अपनी पत्नी को एक ही समय में तीन तलाकों दे दीं।

लेकिन बाद में वह अपने इस व्यवहार (अमल) पर शर्मिन्दा हुआ और हज़रत मोहम्मद साहेब से इस सम्बन्ध में पूछा तो आपने फरमाया कि ये तीनों तलाक एक तलाक ही माना जाएगा। (पुस्तक हदीस सही-मुस्लिम अध्याय तलाक)

विश्व-व्यापी अहमदिया समुदाय के समक्ष पवित्र कुआन के आदेशों और हज़रत मोहम्मद साहेब की हदीशों (कथनों) के अनुसार एक ही समय में तलाक देना सही नहीं है।

आजकल कुछ लोगों ने इस्लाम में 'हलाला' के प्रावधान को भी चर्चा का एक विषय बना रखा है। बताया जाता है कि जब पति द्वारा अपनी पत्नी को अनावश्यक क्रोध

या बदहवासी की हालत में एक ही समय में तीन तलाक दे दिया जाता है, और फिर क्रोध और बदहवासी समाप्त होने पर उसे अपनी गलती का एहसास होने पर वह फिर अपनी तलाकशुदा पत्नी से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करना चाहता है, तो नाम नेहाद मुल्ला द्वारा उस तथाकथित तलाकशुदा महिला (पत्नी) का किसी दूसरे मर्द से फर्जी निकाह कराकर और फिर उस दूसरे तथाकथित निकाह कराये पति से उस महिला (पत्नी) को एक ही समय में तीन तलाक दिलवाकर उसका पुनः निकाह उसके पहले पति से करवाकर उसके साथ वैवाहिक सम्बन्ध बना दिया जाता है। नाम नेहाद मुल्ला के अनुसार इसे 'हलाला' कहा जाता है। हज़रत मोहम्मद साहेब ने हदीश में फरमाया है कि अल्लाह ताला 'हलाला' करने वाले पर और जिसके लिए 'हलाला' करवाया जाए, दोनों पर लानत (धक्कार) डालता है। (हदीश तिरमिजी)।

अर्थात् इस्लाम में उक्त 'हलाला' का कोई स्थान या मान्यता नहीं है। इस्लामिक प्रावधान यह है कि अगर कोई महिला (पत्नी) जायज़ तलाक के बाद किसी दूसरे मर्द से जायज़ तरीके से (अर्थात् इस्लाम के प्रावधान अनुसार) निकाह (शादी) करे और उसके साथ अपना जीवन मिया-बीबी के रूप में उसके घर पर बिताये, और फिर अगर किसी कारणवश (जायज़ कारणवश) वह मर्द (दूसरा पति) भी उसे उक्त प्रवाधान के अनुसार तलाक दे दे, या उस दूसरे पति की मृत्यु हो जाए, तो वह महिला (पत्नी) और उसका पहला पति एक दूसरे की स्वेच्छा से दोबारा निकाह (शादी) कर सकते हैं। ऐसा करना दोनों के लिए इस्लाम में कोई आदेश या मजबूरी नहीं है।

एक और बड़ा मसला यह है कि तलाकशुदा और (पत्नी) का तलाक के बाद जीवन-यापन की क्या सूरत होगी? इस सम्बन्ध में अल्लाह ताला कुआन में फरमाता है कि-“तलाकशुदा (पत्नी) या महिला को हुस्ने सुलुक के साथ (अच्छे व्यवहार और ढंग से) विदा किया जाए” हज़रत मोहम्मद साहेब के समयकाल में उनके कुछ अनुयायियों के द्वारा तलाक देने के बाद भी अपनी तलाकशुदा पत्नियों को उस समय दस-दस हजार रुपयों के बराबर रकमों का अहसान के तौर पर भुगतान किया गया था।

विश्व-व्यापी अहमदिया मुस्लिम समुदाय एक स्थापित व्यवस्था के अधीन ऐसे मामलों को तय करता है और जमाअत में ऐसी तलाकशुदा महिला के लिए जो अपना पालन-पोषण अथवा जीवन-यापन स्वयं करने में असमर्थ होती है, अहमदिया मुस्लिम समुदाय के द्वारा, बैतुल-माल और अल-बसीयत (पुनःस्थापित आर्थिक व्यवस्था) से, गुज़ारा की रकम निर्धारित की जाती है।

दुर्भाग्यवश 72 समुदायों फिरको में बँटे मुसलमान 'ख़िलाफत' (उत्तराधिकारी) की नेमत आकाशीय भेंट से वंचित हैं और इसी कारण मुसलमान महिलाओं की बदहाली दुःव्यवस्था का भयानक रूप आज दुनिया के सामने है।

एक और विषय जो आज मीडिया में बार-बार उछाला जा रहा है कि मुसलमानों को एक से ज्यादा शादियों से रोका जाए। इस सम्बन्ध में अहमदिया मुस्लिम समुदाय का यह मानना है कि इस्लाम में पुरुष व महिला के वैवाहिक सम्बन्ध में जब कुछ ऐसे कारण एवं हालात उत्पन्न हो जाते हैं, जिसके फलस्वरूप उनके वैवाहिक जीवन का उद्देश्य विफल हो जाता है, तो मजबूरी में मुस्लिम पुरुष को एक से ज्यादा शादी की अनुमति इस शर्त पर दी गई है कि वह उनसे न्याय और समानता का सुलूक (व्यवहार) करेगा। यहाँ पर यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि यह केवल अनुमति है आदेश नहीं। लेकिन अफसोस है कि मुसलमानों का ग़लत तरीके पर हो रहा अमल कर्म इस्लाम को बदनाम करने का कारण बन रहा है।

विश्वव्यापी अहमदिया मुस्लिम समुदाय, भारतीय प्रशासन एवं न्यायिक व्यवस्था को बड़ी आदर के साथ निवेदन करती है कि पवित्र कुरआन और शरीयतें इस्लाम (इस्लामिक प्रावधान) के स्थापित नियमों में न तो कोई त्रुटि है और न कोई कमजोरी, बल्कि सच तो यह है कि उन आदेशों और प्रावधानों पर अमल करने और करवाने वाले के आचरण और नियम में दोष है। आजकल के नाम नेहाद मुल्ला कुरआनी तालीमात (शिक्षा) को ग़लत ढंग रंग में दुनिया के सामने पेश करके इस्लाम को बदनाम कर रहे हैं।

□

सिनेमा की नयी स्त्री

आवरण-कथा

यशस्विनी पाण्डेय

अरसे से समाज में भारतीय स्त्री का अस्तित्व बहुत ही मुखर होकर उभरा है, चाहे वो कला का क्षेत्र हो, साहित्य, टेलीविजन या हिन्दी सिनेमा का। आज सिनेमा में नायिका की ये स्थिति है कि नायिका बनने की होड़ लगी है। सम्भ्रान्त परिवार से लड़कियाँ आ रही हैं अपने अभिनय का लोहा मनवाने के लिए। कोई घर से विरोध करके चल पड़ी, किसी ने घर ही छोड़ दिया, कोई प्रशिक्षण लेकर आ रही, तो कोई विरासत में अभिनय लेकर आ रही। प्रतियोगिता बढ़ गयी है अभिनय से लेकर, नृत्य, शारीरिक बनावट, फिटनेस, भाषा, से लेकर हर क्षेत्र में अलग चाहिए, अपार प्रतिभा चाहिए।



लेखिका साहित्य की विभिन्न विधाओं में सृजनशील हैं।
+918306396839
yashaswinipathak@gmail.com



हिन्दी सिनेमा या यूँ कहे पूरा भारतीय सिनेमा व समाज ही नायक प्रधान रहा है। वह हमेशा ऐसे नायक को प्रस्तुत करता रहा है जो सबकी बात करे, सबके लिए आदर्श हो व सबके लिए लड़े। परन्तु बदलते समय के साथ-साथ सिनेमा के प्रतिमान भी बदले, बदलते समय के साथ नायिकाएँ भी अपनी जगह बनाते चली गयीं। हिन्दी सिनेमा अपने प्रारम्भ से ही समाज में स्त्री की स्थिति और समय के साथ उसकी बदलती भूमिका, उसकी चुनौतियों को सकारात्मक व लगभग आदर्श रूप में प्रस्तुत करता रहा है। सिनेमा के प्रारम्भ में ऐतिहासिक, धार्मिक और पौराणिक फिल्मों के अनुरूप ही स्त्री पात्र उन्ही पारंपरिक भूमिकाओं में रही। हर काल में समाज की समस्याएँ बदल जाती हैं, ठीक वैसे ही जैसे हर उम्र में हमारी समस्याओं का रूप अलग-अलग होता है।

हिन्दी सिनेमा ने काफी सालों तक नारी की उस आदर्श वाली तस्वीर प्रस्तुत की जिस आदर्श की अपेक्षा पितृसत्तात्मक समाज को रहती है। नारी जीवन की सार्थकता इस बात

में है कि वो प्रेम को महत्व न देकर संस्कारों और परम्पराओं को महत्व दे, पति और बच्चों के लिए जीये, उनके लिए व्रत, त्याग, तपस्या करे। हर तरह से पति के लिए लॉयल और समर्पित रहे। हमारा समाज स्त्रियों की स्वच्छन्दता का घनघोर विरोधी और उनकी घरघुसरु किस्म की पर्दानशीनी का पक्षपाती रहा है। जो नारी इन मानकों के साथ अपना जीवन-यापन नहीं कर सकी उसे खलनायिका का रूप दे दिया गया। खलनायिका वो औरत भी होती थी जो जीवन को अपने शर्तों के मुताबिक जीती है, क्लब या डिस्को में नाचती है, पुरुषों से बात करती है, उन्हें रिझाती भी है, छोटे कपड़े पहनती है और अपनी सेक्सुअली जरूरतों को प्राथमिकता देती है। इस तरह सिनेमा में दो तरह के चारित्रिक विशेषताओं के साथ नारी के चरित्र और उसके अच्छे बुरे होने का सर्टिफिकेट जारी कर दिया गया और फिल्मों में वैसा ही दिखाया जाने लगा। धीरे-धीरे ये दो मुख्य छवियाँ बदलने लगीं और नायिका कई छवियों में हमारे सामने आयीं। शिक्षा, राजनीति, सेरोगेसी, लिव इन रिलेशनशिप,

कार्पोरेट, देह व्यापार, मॉडलिंग, खेल-जगत, समलैंगिकता, ऐतिहासिक घटनाएँ, सेक्सुअलिटी, पत्रकारिका और भी ऐसे असंख्य विषय व विषय क्षेत्र में नायिका उभर कर आयीं व नायिका प्रधान फिल्में बनने लगीं व नायिकाओं की एक अपनी जगह बनी।

भारतीय सिनेमा में स्त्री (नायिका) की भूमिका, प्रवेश, पदार्पण का विडंबनापूर्ण सच यही है कि भारत की पहली नायिका निजी जीवन में पुरुष थीं। बदलते समाज, पाश्चात्य संस्कृति का प्रभाव, स्त्री विमर्श, साहित्य में क्रान्तिकारी परिवर्तन, उदारीकरण, आधुनिकता ने हर क्षेत्र को प्रभावित किया। पिछले कुछ अरसे से समाज में भारतीय स्त्री का अस्तित्व बहुत ही मुखर होकर उभरा है, चाहे वो कला

हैं उसके कुछ प्रतिबिम्बों को सिनेमा ने दिखाने की कोशिश की ही है। आज के नये सिनेमा में नायिकाओं का जो मुखर रूप सामने आया है वो न दर्शक कभी सोच सकता था न समाज। सिनेमा एक साथ सभी वर्गों का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता। हर वर्ग के लिए अलग-अलग किस्म की फिल्में बनी हैं।

एक स्त्री के जीवन में कई समस्याएँ होती हैं पति प्रेमी के साथ सामंजस्य, माँ बाप के साथ सामंजस्य, समाज के साथ सामंजस्य, कार्यस्थल पर कई तरह की समस्याएँ, घर में सम्मान और पहचान की समस्या ऐसी छोटी बड़ी कई समस्याएँ हैं, जिन पर कभी-कभी हमारा ध्यान भी नहीं जाता और हम उसके साथ अभ्यस्त हो जाते हैं। ऐसी कई समस्याओं

हिन्दी सिनेमा ने काफी सालों तक नारी की उस आदर्श वाली तस्वीर प्रस्तुत की जिस आदर्श की अपेक्षा पितृसत्तात्मक समाज को रहती है। नारी जीवन की सार्थकता इस बात में है कि वो प्रेम को महत्त्व न देकर संस्कारों और परम्पराओं को महत्त्व दे, पति और बच्चों के लिए जीये, उनके लिए व्रत, त्याग, तपस्या करे। हर तरह से पति के लिए लॉयल और समर्पित रहे। हमारा समाज स्त्रियों की स्वच्छन्दता का घनघोर विरोधी और उनकी घरघुसरु किस्म की पदार्नशीनी का पक्षपाती रहा है। जो नारी इन मानकों के साथ अपना जीवन-यापन नहीं कर सकी उसे खलनायिका का रूप दे दिया गया।

का क्षेत्र हो, साहित्य, टेलीविजन या हिन्दी सिनेमा का। आज सिनेमा में नायिका की ये स्थिति है कि नायिका बनने की होड़ लगी है। अच्छे से अच्छे सम्भ्रांत परिवार से लड़कियाँ आ रही हैं। अपने अभिनय का लोहा मनवाने के लिए, कोई घर से विरोध करके चल पड़ा किसी ने घर ही छोड़ दिया, कोई प्रशिक्षण लेकर आ रहा, तो कोई विरासत में अभिनय लेकर आ रहा। प्रतियोगिता बढ़ गयी है अभिनय से लेकर, नृत्य, शारीरिक बनावट, फिटनेस, भाषा, से लेकर हर क्षेत्र में अलग चाहिए, अपार प्रतिभा चाहिए।

पिछले कुछ दशक में सिनेमा ने नायिकाओं के इतने रूप स्वरूप दिखाये हैं कि ये एक नया विमर्श ही है जिस पर स्वतन्त्र रूप से पुस्तक या असंख्य लेख लिखे जाने चाहिए और लिखे जाने की जरूरत है। समाज में महिलाओं के जितने मुद्दे हैं, जितनी समस्याएँ

और मुद्दों पर हिन्दी सिनेमा ने न सिर्फ बात की है बल्कि बड़ी ही बारीकी से उन मुद्दों को उठाया भी है। खासतौर पर पिछले दस सालों के फिल्मों का अवलोकन किया जाये तो ऐसी-ऐसी फिल्में हमारे सामने आयीं जिनके बारे में पता तो सबको है पर कोई न बात करता न स्वीकार। इन फिल्मों में हम इंग्लिश विन्लिलश, हार्डवे, क्वीन, पिंक, पार्चूड, पीकू, मरदानी, जज्बा, नो वन किल्डजेसिका, चक दे इंडिया, निल बट्टे सन्नाटा, एनएच10, बॉबी जासूस, नीरजा, मैरी कॉम आदि तमाम बायोपिक से लेकर सच्ची घटनाओं पर महिला केन्द्रित फिल्में आयीं। ये प्रयोग महिला प्रधान फिल्मों के रूप में सामने आये।

सिनेमा के सौ सालों में स्त्री ने कई यात्राएँ की हैं, कई पड़ावों को पार किया है। समाज में जितने आन्दोलन, परिवर्तन हुए सभी को हिन्दी सिनेमा ने अपने कथ्य का

आधार बनाया। सिनेमा ने अपनी जिम्मेदारी डिफॉल्ट या बाई डिफॉल्ट निभायी है। उसने कभी भी स्त्री और उसके सरोकारों से अपना पल्ला नहीं झाड़ा अपितु वह स्त्री के साथ सजग रहकर खड़ा रहा है। हिन्दी फिल्में हर युग में बदलती परिस्थितियों के साथ भारतीय समाज के हर रूप और रंग को किसी न किसी रूप में प्रस्तुत करने में सफल हुई हैं। आज का दौर फिल्मों का ही दौर है। फिल्मों ही मुख्य मनोरंजन और ज्ञान विज्ञान को समृद्ध करने का कारगर साधन हैं। फिल्म प्रस्तुतिकरण की शैली में बदलाव अवश्य दिखाई देता है किन्तु इसके केन्द्र में व्यक्ति और समाज के अन्तर्सम्बन्ध ही रहे हैं। निश्चित रूप से फिल्मों समाज को एक नयी सोच देती हैं। हिन्दी सिनेमा ने नारी और नारी शक्ति को नयी पहचान दी, आवाज दी उसके अस्तित्व निर्माण में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी। आगे भी हिन्दी सिनेमा के निर्देशक, पटकथा लेखक व विचारक समाज की नायिकाओं के ऐसे असंख्य व संवेदनशील मुद्दों को, समस्याओं को अपने विषयक्षेत्र व निर्माण क्षेत्र में शामिल करें तो आम जनता भी उन समस्याओं से रूबरू हो और कुछ क्षणों के लिए ही सही वो मुद्दे उनके मस्तिष्क में अंकित हों क्या पता किसी बदलाव व सुधार की तरफ कोई कदम बढ़े!

फिल्में बहुत कुछ स्त्रियों की छवि को पर्दे पर उभारने लगी हैं। स्वरा भास्कर, कंगना रनौत, राधिका आपटे, ऋचा चड्ढा, कल्कि कोचलिन, तापसी पन्नू जैसी सशक्त अभिनेत्रियाँ स्त्री मुक्ति के स्वर को परदे पर जीवन्त कर दे रही हैं। यह और बात है स्त्री सिनेमा में ग्लैमर, सेक्स को भी उसी मात्रा में दिखाया भुनाया जाता है। सिनेमा की प्रगतिशील स्त्री व्यवहारिक जिन्दगी में नकार दी जाती है क्योंकि स्त्री जीवन का वास्तविक रूप कहीं अधिक कठोर मर्यादाओं, नियमों में बंधा होता है। उम्मीद है कि भारतीय सिनेमा आने वाले दिनों में स्त्रियों के प्रति और उदार, संवेदनशील, मानवीय और ईमानदार होगा, जिससे स्त्रियों की आवाज को धार, बल और एक सशक्त माध्यम मिल सके।

□

विमुक्त जनजातियों की स्त्रियाँ

आवरण-कथा

आकांक्षा कुमारी

समाज में यदि देह-व्यापार आज भी जीवित है तो इसका एक महत्त्वपूर्ण कारण यह है कि आज भी हमारे समाज में स्त्री को भोग्या के तौर पर देखने की प्रवृत्ति जागृत है। विडम्बना यह है कि इस प्रवृत्ति पर आवरण डालने के उद्देश्य से यह स्थापित कर दिया जाता है कि इस तरह के कृत्यों के लिए स्त्रियाँ खुद ही जिम्मेदार हैं, क्योंकि वे अपनी आजीविका के साधन के तौर पर इसका इस्तेमाल करती हैं और किसी भी पुरुष के लिए सहजता से 'भोग्या' बनना स्वीकार करती हैं। कहीं-न-कहीं इस तरह के पुरुषवादी मानसिकतायुक्त परिवेश भी वैसी स्त्रियों के जीवन की त्रासदी के लिए जिम्मेदार हैं।



लेखिका सामाजिक मुद्दों पर स्वतन्त्र लेखन करती हैं।

+919773760825

akanksha3105@gmail.com



जनजाति वास्तव में भारत के आदिवासियों के लिए इस्तेमाल होने वाला एक वैधानिक पद है। भारत के संविधान में अनुसूचित जनजाति पद का प्रयोग हुआ है और इनके लिए विशेष प्रावधान लागू किये गए हैं। भारत की कुल जनगणना में आदिवासी 8.61% है। अनुसूचित जनजातियों के विकास से संबंधित प्रावधान मुख्य रूप से अनुच्छेद 275 (1) प्रथम उपबंध तथा 339 (2) में निहित हैं। किसी भी समुदाय को अनुसूचित जनजाति की श्रेणी में शामिल करने के आधार हैं- आदिम लक्षण, विशिष्ट संस्कृति, भौगोलिक पृथक्करण, समाज के एक बड़े भाग से सम्पर्क में संकोच, पिछड़ापन।

निश्चित भौगोलिक सीमाओं में बसे इन कबीलों के अतिरिक्त नट, भाँटू, उचक्का, साँसी, बेड़िया, करवाल और कंजर आदि खानाबदोश कबीले हैं। ब्रिटिश-काल से ही इन्हें कठोर नियंत्रण और कठिन नियमों का पालन करते हुए जीवन व्यतीत करना पड़ रहा था। भारतीय जनजातियों का 19वीं सदी में भारत के ब्रिटिश औपनिवेशिक राज्य ने, कानून और व्यवस्था कायम करने के अपने उपक्रम में,

ऐसी जनजातियों, जातियों, समूहों और व्यक्तियों पर 'अपराधी' का लेबल लगा दिया था। 12 अक्टूबर 1871 ई. में 'आपराधिक जनजाति अधिनियम' के अंतर्गत अधिसूचित किया गया कि इन आपराधिक लेबल वाली जनजाति को 'विमुक्त जनजाति' के नाम से जाना जाए। यह अधिनियम सबसे पहले उत्तर भारत में लागू हुआ फिर 1876 ई. में बंगाल प्रेसीडेंसी में भी लागू किया गया। 1911 ई. में इसे मद्रास में भी लागू किया गया। आपराधिक जनजाति अधिनियम 1871 में कई बार परिवर्तन हुए हैं, परंतु उसके मूल तत्वों में कोई बदलाव नहीं आया है। सन् 1947 में जब देश आजाद हुआ, उस समय लगभग 128 जनजातियों, जिनकी आबादी भारत की कुल जनसंख्या का एक प्रतिशत थी, पर 'अपराधी' का लेबल था। सन् 1952 में इन 'आपराधिक जनजातियों' को 'विमुक्त जनजाति'/डी-नोटीफाईड ट्राईब्स का नाम दिया गया। यद्यपि इन जनजातियों का 'कानूनी दर्जा' बदल दिया गया है परंतु उनके 'सामाजिक दर्जा' में आज भी बहुत परिवर्तन नहीं आया है।

भारतीय समाज का अभिन्न हिस्सा होते हुए भी विमुक्त जनजातियां समाज का सर्वाधिक उपेक्षित और शोषित वर्ग हैं। ये लोग भूमिहीन और अशिक्षित हैं तथा सामाजिक और आर्थिक विषमताओं से जूझ रहे हैं। सदियों से इस समुदाय के लोग रोजगार के बिना किसी प्रत्यक्ष आजीविका साधन के इधर-उधर घूम रहे हैं। यही कारण है कि हाल तक ये अपराधोपजीवी/ जरायमपेशा रहे। सार्वजनिक जीवन में पिछले कुछ वर्षों से ही ये चर्चा में आए हैं। मीडिया द्वारा लगातार इनके मानवाधिकार को लेकर आवाज उठ रहा है पर, अभी-तक कोई ठोस विकल्प नजर नहीं आया है।

औपनिवेशिक विद्वानों ने उत्तर भारत में नस्ल, जाति और जनजाति के विमर्श के आधार पर आपराधिक समुदायों और समूहों को परिभाषित किया। ऐसा मान लिया गया कि कुछ समूहों और जातियों के लोग जन्मजात आपराधिक प्रवृत्ति के होते हैं। दरअसल भारतीय समाज की सांस्कृतिक विविधता को अंग्रेज शासकों ने समझा नहीं। घुमंतू लोग उनकी नजर में समाज के लिए खतरा थे। अंग्रेज उन्हें असांस्कृतिक और असामाजिक तत्व समझते थे। इन समुदाय को अपराधी घोषित करने के पीछे एक महत्वपूर्ण वजह यह भी रहा है कि 1857 ई. के संग्राम में इन यायावर समुदायों ने अपनी अस्मिता और राष्ट्रीयता के संरक्षण के सवाल पर अपने अस्तित्व को उजागर करने की सार्थक कोशिश की। इसी का परिणाम था कि ब्रिटिश-हुकूमत ने भारत के इन जुझारू समुदाय को 'आपराधिक जनजाति' घोषित कर दिया

अधिनियम के अंतर्गत जनजातियों के अलावा गिरोहों तथा व्यक्ति समूहों को भी अपराधी घोषित करने का प्रावधान था। नियम यह था कि यदि एकबार कोई समुदाय अपराधी घोषित हो जाता तो उससे संबंध रखनेवाले अनेक समुदाय अपराधी जनजाति की सूची में शामिल कर लिए जाते थे। इस अधिनियम के प्रावधान बहुत ही कठोर थे। इस समुदाय के सदस्यों को स्थानीय पुलिस स्टेशन पर पंजीकृत होना पड़ता था और दिन में एक खास समय पर हाजिरी लगानी होती थी। अपनी मर्जी से ये आवास तक नहीं बदल सकते थे। शक के आधार पर स्थानीय पुलिस कभी भी किसी को भी गिरफ्तार कर सकती थी। भारत के मूल

निवासियों का वर्गीकरण और कुछ तबकों को अपराधी और डकैत घोषित करना, औपनिवेशिक राज्य द्वारा नस्लीय श्रेष्ठता स्थापित करने और अपनी पश्चिमी पहचान को विलग रखने के प्रयास का हिस्सा था।

विमुक्त जनजातियों में शोषित वर्गों में एक बड़ा वर्ग महिलाओं का भी है। क्योंकि, इस समाज की संरचना ही अपने आप में अलग है। औरतें घर और बाहर दोनों जगह पर भागीदारी निभाती हैं। सरसरी तौर पर देखने में ऐसा प्रतीत होता है कि इन समुदायों की औरतें निडर और उन्मुक्त हैं पर, वास्तविकता यह है कि वे घर के बाहर उन्मुक्त दिखती हैं पर घर के अंदर उनकी स्थिति थोड़ी अलग होती है। कुछ समुदायों में विवाह के समय औरतों को खरीदा भी जाता है। फिर उसे सम्पत्ति या वस्तु की तरह इस्तेमाल किया जाता है। समाज की मान मर्यादा का उल्लंघन करने पर क्रूर और अमानवीय सजा का प्रावधान है जैसे, जीभ को गर्म लोहे की छड़ी से दागना, आग पर चलाना, सिर के बाल उतरवा देना, उबलते तेल की कटोरी में से सिक्का निकालना इत्यादि। इस तरह की सजाएँ ज्यादातर शादी से पहले गर्भ ठहर जाने की स्थिति में दी जाती है। सारे समुदाय में इस तरह का चलन नहीं है पर, पारधरी और वैदू समुदाय में यह चलन आम है। कुछ समुदाय की महिलाएं लोकनृत्य के साथ-साथ 'देह-व्यापार' तक करने को मजबूर हैं क्योंकि, यह पेशा अब उनका परंपरागत पेशा बन चुका है।

समाज में यदि देह-व्यापार आज भी जीवित है तो इसका एक महत्वपूर्ण कारण यह है कि आज भी हमारे समाज में स्त्री को भोग्या के तौर पर देखने की प्रवृत्ति जागृत है। विडम्बना यह है कि इस प्रवृत्ति पर आवरण डालने के उद्देश्य से यह स्थापित कर दिया जाता है कि इस तरह के कृत्यों के लिए स्त्रियाँ खुद ही जिम्मेदार हैं क्योंकि, वे अपनी आजीविका के साधन के तौर पर इसका इस्तेमाल करती हैं और किसी भी पुरुष के लिए सहजता से 'भोग्या' बनना स्वीकार करती हैं। कहीं-न-कहीं इस तरह के पुरुषवादी मानसिकतायुक्त परिवेश भी वैसी स्त्रियाँ के जीवन के त्रासदी के लिए जिम्मेदार है जिन्हें अतीत में गणिकाएँ, देवदासियाँ, नगरवधू, कहा जाता था और आजकल काल

गर्ल, बार डांसर, और सेक्स-वर्कर कहा जाता है। ग्रामीण परिवेश में ये नचनिया, पतुरिया, धन्धेवाली इत्यादि कही जाती हैं।

मध्यप्रदेश में निवास करने वाली एक अन्य विमुक्त जनजाति 'बेड़िया' की स्थिति कुछ और ही है। वैसे तो इस समुदाय का पारम्परिक व्यवसाय चोरी/डकैती रहा है पर, धीरे-धीरे इन्होंने राई नृत्य को अपना व्यवसाय बनाया जो कि नौटंकी का ही एक रूप है। इस नृत्य को बेड़िया समुदाय के स्त्री-पुरुष मिलकर किया करते थे। एक महत्वपूर्ण तथ्य यह भी है कि इस नृत्य की आड़ में इस समुदाय की महिलाओं को देह-व्यापार भी करना पड़ता था। धीरे-धीरे इस समुदाय के पुरुष आलसी होते गए और अपनी घर की औरतों पर निर्भर होते चले गए और देह-व्यापार इन महिलाओं का मुख्य पेशा बन गया। घर चलाने की जिम्मेदारी घर की बेटियों की बन गयी और बेटे शादी करके अपना घर बसाने लगे। जिन लड़कियों की शादी हो जाती वो बेड़नी अर्थात देह-व्यापार में नहीं जाती थी। उसे घर की चारदीवारी में ही रहकर घर सँभालने की जिम्मेदारी उठानी होती है। देह-व्यापार का स्वरूप इस समुदाय में थोड़ा अलग है। 'सिर ढंकना' नामक एक रस्म के जरिए औरतें देह-व्यापार में उतरती हैं। इस रस्म को कोई जमींदार या समतुल्य व्यक्ति पूरा करता है और तब यह माना जाता है कि आज से उक्त औरत पर उसका अधिकार है। वह जैसे चाहे उस औरत का इस्तेमाल कर सकता है, उससे अन्य लोगों के साथ भी शारीरिक सम्बन्ध बनाने को बोल सकता है, उस औरत से बच्चे पैदा कर सकता है पर, बच्चे को अपना नाम देगा या नहीं देगा इसके लिए वह स्वतन्त्र होता है। औरत भी किसी अन्य व्यक्ति से सम्बन्ध बनाने और बच्चा पैदा करने के लिए स्वतन्त्र होती है। इस तरह से इस समुदाय में बच्चों की पहचान माँ के नाम से भी हो जाती है या फिर पिता के रूप में किसी भी रूपक जैसे रूपया, पैसा, या कोई काल्पनिक नाम से भी देने का चलन है।

बेड़ियों से जुड़ी कुछ कथाएँ प्रचलित हैं जिसमें उन्हें राजपूत का वंशज बताया जाता है। इस मिथक के अनुसार उस समय सतीप्रथा का प्रचलन था और जबरन युद्ध में मारे गए सैनिकों की विधवाओं को सती होने के लिए

बाध्य किया जाता था। फिर धीरे-धीरे महिलाओं ने सती न होने और जीवन जीने का फैसला लिया पर, पुनर्विवाह सम्भव नहीं था इसलिए कुछ ने सन्यास का मार्ग चुना तो कुछ ने दूसरी जातियों के पुरुषों के साथ सम्बन्ध बनाए। फलतः इन स्त्रियों को जाति से बहिष्कृत कर दिया गया। इन बहिष्कृत स्त्रियों के साथ अब एक बड़ी समस्या यह आयी, वह थी इनकी बेटियों के विवाह की। अपनी विधवा माँ की स्थिति को देखते हुए इन लड़कियों ने खुद को किसी पुरुष के साथ बाँधने से बेहतर, स्वतन्त्र रखना ही समझा और यायावरी जिन्दगी को अपनाया। आजीविका के लिए इन्होंने उच्चवर्ग के आर्थिक रूप से सम्पन्न पुरुषों को लोकनृत्य के माध्यम से आकर्षित कर धन कमाना प्रारम्भ किया धीरे-धीरे यह पेशा देह-व्यापार में तब्दील होता चला गया। इन लड़कियों की खासियत थी कि इन्हें अपने दायित्व का बोध था इसलिए ये अपने परिवार के साथ-साथ समुदाय का भी ध्यान रखती थी। इन लड़कियों ने खुद को 'बेड़नी' अथवा 'नचनारी' कहलाना स्वीकार किया। बिना किसी सामाजिक सम्बन्ध के आर्थिक आधार पर पुरुषों के साथ 'सम्बन्ध' स्वीकार किया। अविवाहित मातृत्व और अपने बच्चों को पालना भी स्वीकार किया। इनकी इस प्रवृत्ति ने पुरुषों को आकर्षित किया। कारण था कि आर्थिक रूप से सम्पन्न इन जमींदारों और ठाकुरों के लिए यह स्थिति इसलिए सुविधाजनक थी क्योंकि, वे इस बात से भयमुक्त थे कि सम्पर्क में आई स्त्री उनके गले पड़ जाएगी और किसी तरह का दावा पेश करेगी। इन स्त्रियों ने धार्मिक स्तर पर भी खुद को लचीला रखा अर्थात्, जिस धर्म के सम्पर्क में ज्यादा रहीं उसे ही अपना लिया। इस समुदाय की एक खासियत यह भी है कि 'देह-व्यापार' से जुड़ी स्त्रियाँ अपने समाज और परिवार में अधिक प्रभावशाली और अधिकार-प्राप्त होती हैं। अपनी आय का अपने हिसाब से उपयोग करने के साथ-साथ पुरुषों को खुद पर आश्रित भी मानती हैं।

समाज सुधार आंदोलन के समय जब तमाम वर्ग की स्त्रियों के विषय में सोचा जा रहा था, उस समय भी इस समुदाय की ओर किसी का ध्यान नहीं गया। उस समय भी

ये महिलाएँ देश के मध्यप्रान्त में अपने और अपने समुदाय के अस्तित्व को बचाए रखने के लिए संघर्षरत थीं। ये तमाम चुनौतियों के विरुद्ध खुद को जीवित रखना चाहती थीं। इनके सहायक की भूमिका निभाने वाले लोग भी अंततः, इनसे 'दैहिक-सुख' की अपेक्षा रखते थे। स्थितियाँ तब और भी शोचनीय हो जाती हैं, जब वही पुरुष जो कि इनकी जिम्मेदारी (सिर ढंकना-प्रथा) लेता था वही अपने घर के समारोह/उत्सव में राई नृत्य करवाता था। यह स्थिति किसी भी स्त्री के लिए कितनी दर्दनाक होती होगी इस बात का अंदाजा लगाया जा सकता है। पतितुल्य व्यक्ति ही अपने परिवार और दोस्तों के बीच इन्हें अश्लील भाव के साथ नाचने को बाध्य करता था। यह भी एक वजह रही जो बेड़नी स्त्री राई नृत्य को अपना पेशा बनाती थी, वो किसी की 'पत्नी' बनने का सपना ही छोड़ देती थी। सबसे बड़ी बात यह है कि इस तरह का पेशा अपनाने के बावजूद ये स्त्रियाँ उन औरतों के प्रति कभी ईर्ष्या भाव नहीं रखती जो इनके पतितुल्य व्यक्ति की 'वैधानिक पत्नी' थीं और न ही इन पत्नियों ने कभी भी इन बेड़नियों को घृणा भाव से देखा जैसा कि वह 'देह-व्यापार' में संलग्न अन्य स्त्रियों को देखती थी। ग्रामीण क्षेत्रों में इन स्थितियों में आज भी बहुत बदलाव नहीं आया है।

इस समाज की एक खासियत और भी है कि, आज जबकि हमारे पारंपरिक समाज में बेटियों के जन्म पर अपेक्षाकृत उल्लास का माहौल कम होता है वहीं, इस समुदाय में बेटियों के जन्म पर जश्न मनाने का प्रावधान है किन्तु, इसका यह अर्थ बिलकुल भी नहीं है कि ये बेटों के जन्म पर दुखी होती हैं और न ही उन्हें उपेक्षित अनुभव कराती हैं ताकि, वह कभी भी खुद को किसी पर बोझ न मान बैठे, जैसा कि, पारंपरिक समाज में अक्सर बेटियों के साथ किया जाता है। बस इतना है कि ये स्त्रियाँ उनसे भविष्य में किसी तरह की उम्मीद नहीं रखतीं। बेटे के जन्म पर जश्न मनाने का मुख्य कारण यह है कि यह समुदाय बेटे को ही अपने भविष्य या वृद्धावस्था का सहारा मानते हैं, क्योंकि इस समुदाय के पुरुष आलसी एवं सुस्त प्रकृति के होते हैं और परजीवी की तरह जीने की चाह रखते हैं।

न ही कोई स्थाई काम करना चाहते हैं और न ही किसी तरह की पारिवारिक जिम्मेदारी लेना चाहते हैं। इसलिए इस समुदाय की जो लड़की अविवाहित रहकर 'देह-व्यापार' में उतरती है अथवा, 'बेड़नी' बनती है उसे अपनी भाई-भाभी, माँ-बहन तथा उस परिवार से जुड़े अन्य सदस्यों का भरण-पोषण का दायित्व लेना होता है। कभी-कभी कोई ऐसा व्यक्ति भी उसके परिवार से आ जुड़ता है जो न तो उनके परिवार से जुड़ा होता है और न ही समुदाय इत्यादि से ताल्लुक रखता पर, उस 'बेड़नी' से आसक्ति रखने की वजह से उसके घर में ही पड़ा रहता है और वे बेड़नी उसका भी भरण-पोषण करती हैं।

इस तरह से सतही तौर पर देखने में यही प्रतीत होता है कि इस समाज की महिलाएँ सशक्त और उन्मुक्त हैं जबकि, वास्तविकता बिलकुल इसके उलट है। बेड़िया औरतें अपने घर के लिए पैसा कमाने वाली मशीन हैं और बाहर के लिए बेशर्म, व्यभिचारी और अपवित्र औरत। हालाँकि, वर्तमान में हर समुदाय की भाँति इस समुदाय में भी सामाजिक परिवर्तन हुए हैं। महिला-आंदोलन एवं सामाजिक संगठनों की लगातार कोशिश का परिणाम है कि अब इस समाज में भी जागरूकता आई है और खासतौर पर औरतें देह-व्यापार के विकल्प के तौर पर अन्य कार्य जैसे, खासतौर पर तमाम कुटीर उद्योग को देखती हैं और उससे जुड़ती भी हैं। हालाँकि इस उद्योग में तमाम तरह की अन्य समस्याएँ भी हैं। बहुत सीमित संख्या में ही सही पर लड़कियों ने शिक्षा की तरफ भी रुझान किया है। इस तरह का परिवर्तन मुख्य तौर पर नवउदारवाद आने के बाद शुरू हुआ और अब यह परिवर्तन सीमित संख्या में ही सही पर दिखाई देने लगा है।

मध्य-प्रदेश और बुन्देलखण्ड के क्षेत्र के अलावा भी इस तरह के समुदाय का अस्तित्व है। अलग-अलग क्षेत्रों में अलग-अलग नामों से इस तरह के समुदाय निवास करते हैं। जैसे- राजस्थान में कंजर, महाराष्ट्र में कोल्हाटी, उत्तर-प्रदेश और बिहार-झारखण्ड में नट, बिहार इत्यादि नाम से प्रसिद्ध हैं। थोड़ी-बहुत सामाजिक और परंपरागत विविधता होने के बावजूद समग्रता में अगर देखा जाए तो समाज में इन समुदायों की स्थिति कमोबेश एक जैसी ही है। □

भारत में स्कूली शिक्षा

विशेष रिपोर्ट

जावेद अनीस

आजादी के बाद भारतीय राज्य का फोकस प्राथमिक शिक्षा पर नहीं था इसलिए शुरुवाती वर्षों में इसको लेकर कोई विशेष प्रयास नहीं किये गए, पूरा जोर औद्योगिक विकास और उच्च शिक्षा पर था। इसलिए 1948 में उच्च शिक्षा के लिए राधाकृष्णन आयोग का गठन किया गया। इसी तरह 1952 में दूसरा आयोग गठित किया गया जिसका सम्बन्ध माध्यमिक शिक्षा से था। प्राथमिक शिक्षा पर आते आते लगभग 17 साल लग गए और 1964 में कोठारी आयोग का गठन किया गया। प्रो. दौलत सिंह कोठारी की अध्यक्षता में गठित यह भारत का ऐसा पहला शिक्षा आयोग था जिसने प्राथमिक शिक्षा पर विचार किया और इसको लेकर कुछ ठोस सुझाव दिए।



लेखक स्वतंत्र पत्रकार हैं।
+919424401459
Javed4media@gmail.com



सार्वजनिक शिक्षा एक आधुनिक विचार है, जिसमें सभी बच्चों को चाहे वे किसी भी लिंग, जाति, वर्ग, भाषा आदि के हों, शिक्षा उपलब्ध कराना शासन का कर्तव्य माना जाता है। भारत में वर्तमान आधुनिक शिक्षा का राष्ट्रीय ढांचा और प्रबन्ध औपनिवेशिक काल और आजादी के बाद के दौर में ही खड़ा हुआ है। 1757 में जब ईस्ट इंडिया कम्पनी के हुकूमत की शुरुआत हुई तब यहाँ राज्य द्वारा समर्थित एवं संचालित कोई ठोस शिक्षा व्यवस्था नहीं थी। हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों की अपनी निजी शिक्षा व्यवस्थाएँ थीं। प्रारम्भ में अंग्रेजों की नीति भारत में पहले से चली आ रही शिक्षा व्यवस्था का सहयोग करने की थी और जोर इस पर था कि देश का शासन चलाने में उनकी मदद करने के लिए भारतीय अधिकारियों को संस्कृत, फारसी और अरबी में अच्छी तरह निपुण किया जाये और परम्परागत हिन्दू और मुस्लिम अभिजात वर्ग में अपनी साख बनायी जा सके। इसी को ध्यान में रखते हुए 1781 में इस्लामी अध्ययन मुहैया कराने के लिए कलकत्ता मदरसा, 1792 में बनारस में बनारस संस्कृत कालेज आदि की स्थापना की गयी। कालान्तर में इस नीति में बदलाव हुआ

अंग्रेजी शासन के लिए आधुनिक शिक्षा प्राप्त वर्ग की जरूरत महसूस की गयी। भाव यह भी था कि कैसे अज्ञानी भारतीयों को अन्धकार से दूर करके उन्हें सभ्य बनाया जाये जिसमें यूरोप की विज्ञान, कला और अंग्रेजी की शिक्षा को ईसाइयत के प्रचार का साधन भी बनाया जा सके। मैकाले के अनुसार—‘अंग्रेजी शिक्षा का उद्देश्य व्यक्तियों के एक ऐसे वर्ग का निर्माण करना था जो रंग और रक्त में भारतीय हो लेकिन रुचियों, विचारों, नैतिकता और बुद्धि में अंग्रेज हो। एक ऐसा वर्ग जो सरकार और लाखों लोगों के बीच मध्यस्थ के तौर पर सेवा दे सके।’

इसके बाद 1837 में बड़ा बदलाव होता है और राजकाज एवं न्यायालय की भाषा से फारसी को हटाकर अंग्रेजी कर दी जाती है। 1844 में इस बात की विध्वत घोषणा कर दी जाती है कि सरकारी नियुक्तियों में अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त भारतीयों को ही तरजीह दी जाएगी। इसी के साथ ही कलकत्ता, मद्रास और बम्बई विश्वविद्यालयों जैसे आधुनिक शिक्षा केन्द्रों की स्थापना की जाती है।

इस दौर में एक खास बात यह होती है कि ईस्ट इंडिया कम्पनी, मिशनरियों और बर्तानी हुकूमत द्वारा स्थापित स्कूल-कालेज सभी

भारतीयों के लिए खुले थे। इस दौरान अँग्रेजों द्वारा एक स्पष्ट नीति अपनाई गयी कि किसी अछूत बच्चे के सरकारी स्कूल में प्रवेश से इंकार नहीं किया जाएगा। यह एक बड़ा बदलाव था जिसने सभी भारतीयों के लिए शिक्षा का दरवाजा खोल दिया।

1911 में गोपाल कृष्ण गोखले ने प्राथमिक शिक्षा को निःशुल्क और अनिवार्य करने का प्रयास किया। पहली बार किसी राष्ट्रीय मंच से अनिवार्य शिक्षा का सवाल उठाया गया। इसके विरोध में सरकारी पक्ष के सदस्य एवं सामन्ती तत्त्व एकजुट हो गये। फलतः गोखले का प्रस्ताव बहुमत से खारिज हो गया लेकिन गोपाल कृष्ण गोखले द्वारा उठायी गयी अनिवार्य शिक्षा की मांग अभी तक बनी हुई है।

आजादी के बाद भारतीय राज्य का फोकस प्राथमिक शिक्षा पर नहीं था इसलिए शुरुआती वर्षों में इसको लेकर कोई विशेष प्रयास नहीं किये गये, पूरा जोर औद्योगिकी विकास और उच्च शिक्षा पर था। इसलिए 1948 में उच्च शिक्षा के लिए राधाकृष्णन आयोग का गठन किया गया। इसी तरह 1952 में दूसरा आयोग गठित किया गया जिसका सम्बन्ध माध्यमिक शिक्षा से था। प्राथमिक शिक्षा पर आते आते लगभग 17 साल लग गये और 1964 में कोठारी आयोग का गठन किया गया। प्रो. दौलत सिंह कोठारी की अध्यक्षता में गठित यह भारत का ऐसा पहला शिक्षा आयोग था जिसने प्राथमिक शिक्षा पर विचार किया और इसको लेकर कुछ ठोस सुझाव दिये।

यह पहला आयोग था जिसने सामन्ती एवं परम्परागत ढाँचे पर आधारित औपनिवेशिक शिक्षा प्रणाली का पुरजोर विरोध किया। उन्होंने कहा 'अब देश को ऐसे शिक्षा प्रणाली की जरूरत है जो अपने में बुनियादी मानवीय मूल्यों को समाहित करते हुए आधुनिक लोकतान्त्रिक समाजवादी समाज की जरूरतों के अनुरूप हो।' कोठारी आयोग ने विस्तार से भारतीय-शिक्षा पद्धति का अध्ययन किया। इसके परिणामस्वरूप ही वर्ष 1968 में भारत की पहली "राष्ट्रीय शिक्षा-नीति" अस्तित्व में आ सकी।

कोठारी आयोग ने भारतीय शिक्षा के निम्न उद्देश्य निर्धारित किये

- सामाजिक एवं राष्ट्रीय एकता का विकास,
- जनतन्त्र को सुदृढ़ बनाना,
- देश का आधुनिकीकरण करना,
- सामाजिक, नैतिक तथा अध्यात्मिक मूल्यों का विकास करना,

- उत्पादन में वृद्धि करना,
- कोठारी आयोग ने कई ऐसे महत्वपूर्ण सुझाव दिये थे जो आज भी लक्ष्य बने हुए हैं। आयोग का सुझाव था कि समाज के अन्दर व्याप्त जड़ता एवं सामाजिक भेद-भाव को समूल नष्ट करने के लिए समान स्कूल प्रणाली एक कारगर औजार होगा। समान स्कूल व्यवस्था के आधार पर ही सभी वर्गों और समुदायों के बच्चे एक साथ सामान शिक्षा पा सकते हैं अगर ऐसा नहीं हुआ तो समाज के उच्च वर्गों के लोग सरकारी स्कूल से भागकर प्राइवेट स्कूलों का रुख करेंगे और पूरी प्रणाली ही छिन्न-भिन्न हो जाएगी।

1968 में भारत की पहली राष्ट्रीय शिक्षा नीति लायी गयी जिसमें 6 से 14 वर्ष की आयु के बच्चों को अनिवार्य शिक्षा, शिक्षकों के बेहतर क्षमतावर्धन के लिए उचित प्रशिक्षण जैसे प्रावधान किये गये और मातृभाषा में शिक्षण पर विशेष जोर दिया गया।

1980 के दशक में भारत सरकार द्वारा देश में सामाजिक आर्थिक-वैज्ञानिक तथा तकनीकी क्षेत्रों में हुए बदलावों को देखते हुए 'शिक्षा की चुनौती-नीतिगत परिप्रेक्ष्य' नाम से एक वस्तुस्थिति प्रपत्र बनाया गया। 1986 में इसी के आधार पर 'राष्ट्रीय-शिक्षा-नीति' का निर्माण हुआ। इसमें कमजोर वर्गों के बच्चों की शिक्षा, 21वीं सदी की आवश्यकताओं के अनुरूप बच्चों में आवश्यक कौशल तथा योग्यताओं का विकास, बाल केन्द्रित शिक्षा और शहरी और ग्रामीण क्षेत्रों को शिक्षा से जोड़ने जैसे प्रमुख विचार थे।

1992 में 1986 की राष्ट्रीय शिक्षा नीति को संशोधित किया गया। 1 अप्रैल, 2010 को शिक्षा अधिकार कानून लागू किया गया। इस अधिनियम के लागू होने से 6 से 14 वर्ष तक के प्रत्येक बच्चे को अपने नजदीकी विद्यालय में निःशुल्क तथा अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा पाने का कानूनी अधिकार मिल गया है। इस अधिनियम में गरीब परिवार के बच्चों के लिए प्राइवेट स्कूलों में 25 प्रतिशत आरक्षण का प्रावधान रखा गया है।

वर्तमान केन्द्र सरकार द्वारा नयी शिक्षा नीति तैयार करने की दिशा में काम किया जा रहा है। शिक्षा नीति, 2017 का मसौदा तैयार करने के लिए प्रख्यात अन्तरिक्ष वैज्ञानिक पद्म विभूषण डॉ. कस्तूरीरंगन के नेतृत्व में एक 9 सदस्यीय समिति का गठन किया गया है।

बड़े बदलाव

- 1951 में साक्षरता दर, 18.43 प्रतिशत थी, जो 2011 में बढ़कर 74.04 प्रतिशत पहुँच गयी है।
- 1950 में देश के प्राथमिक और उच्च प्राथमिक विद्यालयों में 42.60 प्रतिशत बच्चे शिक्षा ग्रहण कर रहे थे, आज शिक्षा प्राप्त करने वाले बच्चों की संख्या 92 प्रतिशत से भी अधिक है।
- प्राथमिक स्तर पर सकल दाखिला अनुपात 1950-51 के 42.6 प्रतिशत से बढ़कर 2003-04 में 98.3 प्रतिशत पहुँच गया है। इसी प्रकार उच्च प्राथमिक स्तर के लिए इसी अवधि में यह दर 12.7 प्रतिशत से बढ़कर 62.5 प्रतिशत हो गयी है।
- 1950 में देश में प्राथमिक विद्यालयों की कुल संख्या 2.10 लाख थी जो साल 2003-04 तक 7.12 लाख हो गयी। उच्च प्राथमिक विद्यालयों की संख्या 13600 से 19 गुना बढ़कर लगभग 2.62 लाख हो गयी है।
- सन् 1950-51 में कुल प्राथमिक विद्यालय के शिक्षकों की संख्या 6.24 लाख थी जो 2002-03 तक बढ़कर 36.89 लाख हो गयी। महिला शिक्षकों की संख्या भी इसी अवधि में बढ़कर 0.95 लाख से 14.88 लाख हो गयी।

चुनौतियाँ जो अभी भी कायम हैं

- आजादी के बाद गठित सभी शिक्षा आयोगों में एक बात पर आम राय रही है कि शिक्षा में समानता और सामाजिक न्याय सुनिश्चित करने के लिए समान स्कूली शिक्षा व्यवस्था को स्थापित करना पहला कदम है। लेकिन इन सिफारिशों को हकीकत में बदलने के लिए क्रियान्वयन की कोशिश आज भी एक सपना है।
- सावर्जनिक शिक्षा लगातार कमजोर हुई है और अब यहाँ ज्यादातर सबसे कमजोर तबकों के बच्चे ही जाते हैं।
- जनगणना (2011) के मुताबिक 8.4 करोड़ बच्चे स्कूल ही नहीं जाते हैं जबकि 78 लाख बच्चे ऐसे हैं जो स्कूल तो जाते हैं लेकिन इसके साथ काम पर भी जाते हैं।
- अनिवार्य शिक्षा का प्रश्न गोखले के सौ बरसों के बाद मुंह बाये खड़ा है। इतना अवश्य हुआ कि 6-14 वर्ष के बच्चों के लिए शिक्षा को अनिवार्य कर दिया गया।

□

सरकारी स्कूलों की बदहाली

विशेष रिपोर्ट

शम्स तमन्ना

अभिभावकों को लगता है कि सरकारी स्कूलों में अँग्रेजी केवल एक विषय के रूप में पढ़ाई जाती है, वह भी नाममात्र के लिए, जबकि प्राइवेट स्कूलों में हिन्दी विषय को छोड़कर अन्य सभी विषयों को न केवल अँग्रेजी में पढ़ाया जाता है बल्कि स्कूल परिसर में छात्रों को अँग्रेजी भाषा में ही बात करने के लिए प्रेरित भी किया जाता है। उन्हें विश्वास है कि अँग्रेजी भाषा से स्कूली पढ़ाई करने वाले बच्चों को भविष्य में मेडिकल, इंजीनियरिंग, लॉ, मैनेजमेंट और पत्रकारिता की पढ़ाई कराने वाले देश के उच्च शिक्षण संस्थाओं में आसानी से प्रवेश मिल सकता है।



लेखक डीडी न्यूज में असिस्टेंट प्रोड्यूसर हैं।
+919350461877
sarahshamstamma@gmail.com



2019-20 के अन्तरिम बजट में शिक्षा के क्षेत्र में करीब 94 हजार करोड़ रूपए आवंटित किये गये हैं जो पिछले वित्तीय वर्ष की तुलना में 10 फीसदी अधिक है। अन्तरिम बजट में उच्च शिक्षा के लिए 37, 461.01 करोड़ रूपए की तुलना में स्कूली शिक्षा के लिए 56, 386.63 करोड़ रूपए आवंटित किये गये हैं। जबकि पिछले वित्तीय वर्ष में 50 हजार करोड़ रूपए आवंटित किये गये थे। केवल राष्ट्रीय शिक्षा मिशन में ही 38, 573 करोड़ रूपए के बजट का प्रावधान किया गया है। इन राशियों में जहाँ क्लास रूम को डिजिटलाइज करना शामिल है वहीं शिक्षकों के पढ़ाने का स्तर सुधारना और उन्हें ट्रेनिंग देना भी शामिल है। विशेषज्ञों के अनुसार इस वित्तीय वर्ष में शिक्षा के बजट में 3.69 फीसद का इजाफा हुआ है।

आंकड़ों के अनुसार 2015-16 में जहाँ बिहार के सरकारी स्कूलों में 2.35 करोड़ बच्चों का नामांकन हुआ था वहीं 2016-17 में यह आंकड़ा घटकर 2.19 करोड़ रह गया। वहीं उ.प्र. में इसी अवधि के दौरान यह आंकड़ा 1.62 करोड़ की तुलना में घटकर 1.52 करोड़ रह गया है। हालाँकि संस्था की रिपोर्ट के

अनुसार दक्षिण भारतीय राज्यों केरल, तमिलनाडु, तेलंगाना और कर्नाटक के सरकारी स्कूलों में बच्चों के नामांकन में मामूली गिरावट आयी है। कुल मिलाकर देश भर के सरकारी स्कूलों में तकरीबन 56.59 लाख बच्चों के नामांकन में कमी आयी है और इन आंकड़ों में अकेले बिहार और उ.प्र. का 43 प्रतिशत हिस्सा है।

अभिभावकों को लगता है कि कम्प्यूटिशन के इस दौर में जहाँ प्राइवेट नौकरियाँ ही एकमात्र विकल्प हैं, यदि उनके बच्चों को आगे रहना है तो सरकारी नहीं बल्कि निजी स्कूल ही उचित होगा। उन्हें इस बात का यकीन है कि प्राइवेट कम्पनियों के वर्क कल्चर और उस वातावरण को तैयार करने की क्षमता निजी स्कूलों में ही होती है। यह वर्क कल्चर वास्तव में अँग्रेजी भाषा से जुड़ा है। सरकारी स्कूलों में अँग्रेजी केवल एक विषय के रूप में पढ़ाई जाती है, वह भी नाममात्र के लिए। जबकि प्राइवेट स्कूलों में हिन्दी विषय को छोड़कर अन्य सभी विषयों को न केवल अँग्रेजी में पढ़ाया जाता है बल्कि स्कूल परिसर में छात्रों को अँग्रेजी भाषा में ही बात करने के लिए प्रेरित भी किया जाता है। उन्हें विश्वास है कि अँग्रेजी

भाषा से स्कूली पढ़ाई करने वाले बच्चों को भविष्य में मेडिकल, इंजीनियरिंग, लॉ, मैनेजमेंट और पत्रकारिता की पढ़ाई कराने वाले, देश के उच्च शिक्षण संस्थाओं में आसानी से प्रवेश मिल सकता है। जबकि सरकारी स्कूलों में हिन्दी माध्यम से पढ़ने वाले बच्चों को इन्हीं क्षेत्रों में प्रवेश पाना मुश्किल हो जाता है। उ. प्र. एससी जैसे देश के प्रतिष्ठित प्रतियोगिता परीक्षाओं में भी अंग्रेजी माध्यम वाले परीक्षार्थियों का दबदबा उनकी आशंकाओं को बल देता है।

माँ-बाप के इसी सोच ने बिहार और उत्तर प्रदेश में शिक्षा के ट्रेंड को बदल दिया है। इन राज्यों में अब बड़े पैमाने पर कृकुरमुत्ते की तरह प्राइवेट स्कूलों की बाढ़ आ गयी है। गली-गली में प्राइवेट स्कूल खुल गये हैं, जो अंग्रेजी भाषा में शिक्षा देने का दावा करते हैं। हालाँकि इनमें से अधिकांश स्कूल सीबीएसई के मानकों पर दूर-दूर तक खरे नहीं उतरते हैं इसके बावजूद उन स्कूलों में बच्चों के नामांकन में तेजी से इजाफा होता जा रहा है। ऐसे स्कूल मनमाने तरीके से फीस एवं अन्य मदों के नाम पर अभिभावकों से मोटी रकम वसूल कर रहे हैं। उनपर एक बार में ही साल भर की फीस भरने का दबाव बनाया जाता है, वहीं दूसरी तरफ अभिभावकों को स्कूल ड्रेस सहित किताब-कॉपी भी स्कूल से ही खरीदने के लिए बाध्य किया जाता है। एनसीईआरटी की पुस्तकों की बजाय निजी प्रकाशकों की महंगी किताबें खरीदने को कहा जाता है। इसके पीछे निजी प्रकाशकों एवं अन्य सामाग्री उपलब्ध कराने वाली एजेंसियों से स्कूल को मिलने वाला मोटा कमीशन प्रमुख कारण माना जाता है। लेकिन इसके बावजूद ऐसे ही स्कूलों में दाखिले की होड़ मची होती है। हालाँकि इन दोनों ही राज्यों की सरकारों ने निजी स्कूलों की मनमानी को रोकने के लिए सख्त कदम उठाने का फैसला किया है। बिहार सरकार ने जहाँ इसके लिए फीस निर्धारण हेतु एक्ट 2018 बनाने की बात कही थी वहीं उ.प्र. के निजी स्कूलों में मनमानी फीस पर नकेल कसने के लिए योगी सरकार ने उ.प्र. स्ववित्तपोषित स्वतन्त्र विद्यालय (शुल्क का विनियमन) विधेयक, 2017 को सख्ती से लागू करने पर जोर दिया है।

लन्दन स्थित इंस्टिट्यूट ऑफ एजुकेशन की प्रोफेसर गीता गाँधी ने 2017 में अपने एक शोध में बताया था कि वर्ष 2010-11 से वर्ष 2015-16 के बीच भारत के 20 राज्यों के

सरकारी स्कूलों में नामांकन लेने वाले छात्रों की संख्या में 1.3 करोड़ की कमी आयी है, जबकि इसी अवधि में निजी स्कूलों में 1.75 करोड़ नये छात्रों का नामांकन हुआ है। यानि इन पांच वर्षों के दौरान सरकारी स्कूलों में औसत नामांकन प्रति स्कूल 122 से घटकर 108 हो गया जबकि निजी स्कूलों में 202 से बढ़कर 208 हो गया। एक रिसर्च के अनुसार मनमानी फीस वसूलने के बावजूद निजी स्कूलों में नामांकन के पीछे कुछ निजी स्कूलों में वहाँ पढ़ाने वाले टीचरों का उच्च शिक्षित भी होना है।

शिक्षाविद शमीमा शब्बीर के अनुसार देश में स्नातक बेरोजगारों की एक बड़ी संख्या है। जिसमें प्रति वर्ष इजाफा ही होता जा रहा है, जबकि इसकी तुलना में नौकरियाँ सीमित हैं। पढ़ाई पर लाखों रूपए खर्च करने के बावजूद जब इन बेरोजगारों को कहीं नौकरी नहीं मिलती है तो ये युवा प्राइवेट स्कूलों में कम वेतन पर भी काम करने को तैयार हो जाते हैं। उनकी इसी मजबूरी का फायदा प्राइवेट स्कूल चलाने वाले संगठन उठाते हैं। इन स्कूलों में अभिभावकों से तो फीस में मोटी रकम वसूली जाती है लेकिन शिक्षकों को काफी कम वेतन दिया जाता है, यहाँ तक कि सरकारी स्कूलों की तुलना में प्राइवेट स्कूलों के शिक्षकों को छुट्टियाँ भी बहुत कम मिलती हैं। उनके अनुसार रोजगार नहीं मिलने के कारण बिहार में ऐसे कई स्नातक और इंजीनियर हैं जो अपने क्षेत्रों में प्राथमिक स्तर पर गैर मान्यता प्राप्त इंग्लिश मीडियम स्कूल धड़ल्ले से चला रहे हैं। बड़ी संख्या में अभिभावक भी अपने बच्चों को अंग्रेजी में पढ़ाने की लालच में इन स्कूलों में एडमिशन कराते हैं।

दूसरी ओर सरकारी स्कूलों में शिक्षकों की कमी के कारण गुणवत्तापूर्ण शिक्षा में लगातार गिरावट आ रही है। देशभर में सरकारी स्कूलों में तकरीबन 60 लाख शिक्षकों के पद स्वीकृत हैं, लेकिन अलग अलग स्तरों पर जारी किये गये सरकारी आंकड़ों तथा कई संस्थाओं के रिसर्च और रिपोर्ट में यह बात सामने आयी है कि इस वक्त देशभर में सरकारी स्कूलों में लगभग दस लाख शिक्षकों के पद खाली हैं। इनमें अकेले 9 लाख पद प्राथमिक स्कूलों में खाली हैं। प्राथमिक स्तर पर सबसे अधिक दो लाख चौबीस हजार से ज्यादा पद उ.प्र. में रिक्त है। जबकि बिहार में यह संख्या दो लाख तीन

हजार के करीब है। पश्चिम बंगाल और झारखंड के प्राथमिक एवं माध्यमिक स्कूलों में भी शिक्षकों की औसतन एक तिहाई सीटें खाली हैं। इसके बाद मध्यप्रदेश और छत्तीसगढ़ का नंबर आता है, जहाँ इन राज्यों की अपेक्षा स्थिति कुछ बेहतर है लेकिन इसे भी सन्तोषजनक नहीं कहा जा सकता है। इसके विपरीत गोवा, ओडिशा और सिक्किम में प्राथमिक स्कूलों में शिक्षकों का कोई पद खाली नहीं है। सिक्किम देश का एकमात्र ऐसा राज्य है जहाँ प्राथमिक और माध्यमिक स्तरों पर शिक्षकों के शत-प्रतिशत पद भरे हुए हैं। जबकि माध्यमिक स्तर पर देश में शिक्षकों की सबसे ज्यादा कमी झारखंड में है। बिहार में भी माध्यमिक स्तर पर शिक्षकों के स्वीकृत 17 हजार से अधिक पद खाली है जबकि उ.प्र. में तकरीबन 7 हजार माध्यमिक शिक्षकों के स्वीकृत पद खाली पड़े हैं। देश के सबसे अशान्त राज्य जम्मू-कश्मीर में भी 21 हजार से अधिक माध्यमिक स्तर पर शिक्षकों की जगह खाली है। जहाँ 25, 657 स्वीकृत पदों में केवल 4436 पद ही भरे हुए हैं। हालाँकि बिहार के शिक्षा मन्त्री ने पिछले वर्ष नवम्बर में घोषणा की है कि शिक्षकों के खाली पड़े करीब डेढ़ लाख पदों पर जल्द नियुक्ति की जाएगी जबकि एक अन्य घोषणा के अनुसार राजकीय, राजकीयकृत तथा मिडिल से हाईस्कूलों में अपग्रेड स्कूलों में करीब 4500 गेस्ट टीचरों की बहाली की जाएगी। ये शिक्षक अंग्रेजी, गणित और साइंस विषयों के लिए बहाल किये जाएंगे। इनकी बहाली +2 स्कूलों में बहाल हुए अतिथि शिक्षकों के तर्ज पर की जाएगी परन्तु इनका वेतन उन्हें मिलने वाले 1000 रूपए प्रतिदिन अथवा 25 हजार रूपए से कम होगा।

समस्या केवल शिक्षकों की कमी की नहीं है, प्रशिक्षित शिक्षकों की कमी भी एक बड़ी समस्या है। सेंटर फॉर बजट एंड गवर्नेंस अकाउंटबिलिटी (सीबीजीए) और चाइल्ड राइट एंड यू (क्राई) की एक रिसर्च के अनुसार योग्य शिक्षकों की कमी देश के लगभग सभी राज्यों में है। समूचे देश में शिक्षक-छात्र अनुपात, शिक्षकों की संख्या और उनकी ट्रेनिंग के मामले में बिहार की स्थिति सबसे खराब है, जहाँ खाली पड़े पदों को भरने के लिए अतिथि शिक्षकों के नाम पर बड़ी संख्या में अप्रशिक्षित शिक्षकों की भर्ती कर दी गयी है। रिपोर्ट के अनुसार बिहार के प्राथमिक स्कूलों में 38.7 प्रतिशत अध्यापक प्रशिक्षित नहीं हैं।

जबकि माध्यमिक स्तर पर ऐसे शिक्षकों की संख्या 35.1 फीसदी है। दूसरे स्थान पर पश्चिम बंगाल आता है जहाँ प्राथमिक स्तर पर 31.4 और माध्यमिक स्तर पर 23.9 फीसदी शिक्षक प्रोफेशनली ट्रेड नहीं हैं। हालाँकि एक अच्छी बात यह है कि शिक्षा के स्तर को सुधारने के लिए बिहार सरकार प्रशिक्षित शिक्षकों की बहाली की दिशा में लगातार कोशिशें कर रही है।

आश्चर्य की बात यह है कि भारत के सरकारी शिक्षक न केवल प्राइवेट स्कूलों में पढ़ाने वाले अपने समकक्ष शिक्षकों की तुलना में बल्कि कई अन्य देशों की तुलना में अधिक वेतन पाते हैं। चीन की तुलना में इनका वेतन चार गुणा अधिक है। प्रख्यात अर्थशास्त्री और नोबेल प्राइज विजेता अमर्त्य सेन और जीन डेरेज के 2013 के एक विश्लेषण के अनुसार उ.प्र. में सरकारी स्कूलों के शिक्षकों का वेतन भारत के प्रति व्यक्ति सकल घरेलू उत्पाद से चार गुणा और स्वयं उत्तर प्रदेश के प्रति व्यक्ति सकल घरेलू उत्पाद से 15 गुणा अधिक है। इसके बावजूद सीखने के स्तरों के आधार पर भारतीय शिक्षकों का प्रदर्शन 'प्रोग्राम फॉर द इंटरनेशनल असेसमेंट (पीआईएसए) टेस्ट में बहुत ही खराब रहा है। इस कार्यक्रम में 74 देशों के बीच भारत का स्थान 73वां रहा वहीं चीन दूसरे स्थान पर रहा।

सरकारी स्कूलों की खराब होती गुणवत्ता का सबसे बड़ा कारण शिक्षा विभाग के अधिकारियों की उदासीनता और लापरवाही है, जो सरकारी खजाने से वेतन और अन्य सुविधाएँ तो प्राप्त करते हैं लेकिन अपने बच्चों को प्राइवेट स्कूलों में पढ़ाते हैं। जरूरत है 2015 में इलाहाबाद हाईकोर्ट के उस फैसले को सख्ती से लागू करने की, जिसमें कोर्ट ने सभी नौकरशाहों और सरकारी कर्मचारियों के लिए उनके बच्चों को सरकारी स्कूलों में पढ़वाना अनिवार्य किया था। मोटी रकम लेकर एडमिशन देने वाले निजी स्कूलों की बढ़ती संख्या के बावजूद देश के 55 प्रतिशत (लगभग 26 करोड़) बच्चे सरकारी स्कूलों में पढ़ते हैं। ऐसे में उनके भविष्य को अन्धकारमय होने से बचाने के लिए केवल भारी भरकम बजट आवंटित करना ही एकमात्र उपाय नहीं हो सकता है बल्कि सुधार की आवश्यकता है, जिसे सभी स्तरों पर ईमानदारी से किये जाने की जरूरत है।

□

सर्वोच्च न्यायालय का निर्णय

सरकारी वेतन पाने वालों के बच्चे अनिवार्य रूप से पढ़ें सरकारी विद्यालयों में

सर्वोच्च न्यायालय ने पुनः इस महत्वपूर्ण मुद्दे को जिन्दा कर दिया है कि सरकारी वेतन पाने वालों को अनिवार्य रूप से अपने बच्चों को सरकारी विद्यालयों में ही पढ़ाना चाहिए। उच्च न्यायालय, इलाहाबाद के न्यायमूर्ति सुधीर अग्रवाल ने 18 अगस्त 2015 को यह अहम फैसला दिया था। उत्तर प्रदेश के तत्कालीन मुख्य सचिव आलोक रंजन को यह आदेशित किया गया था कि छह माह में वे फैसला लागू कर न्यायालय के समक्ष क्रियान्वयन की स्थिति प्रस्तुत करें, किन्तु अखिलेश यादव की सरकार ने फैसले को ही नजरअन्दाज कर दिया। योगी आदित्यनाथ ने मुख्य मन्त्री बनते ही बयान दिया कि वे सरकारी विद्यालयों को इतना अच्छा बना देंगे कि लोगों को निजी विद्यालयों का मुँह ही न देखना पड़े। किन्तु कुछ समय के बाद योगी आदित्यनाथ तथा केन्द्रीय गृह मन्त्री व लखनऊ के सांसद राजनाथ सिंह निजी विद्यालयों के हितों का संरक्षण करने लगे और उनके यहाँ मेहमान बनकर विभिन्न कार्यक्रमों में जाने लगे।

सुधीर अग्रवाल ने अपने फैसले में कहा था कि चूँकि समाज का सम्पन्न तबका, जिसमें जनप्रतिनिधि, अधिकारी व न्यायाधीश भी शामिल हैं, अपने बच्चों को निजी विद्यालयों में पढ़ने भेजता है, इसलिए उन्हें सरकारी विद्यालयों की गुणवत्ता की कोई चिन्ता नहीं रहती। अतः सरकारी विद्यालयों को ठीक करने के लिए इस वर्ग के बच्चों को सरकारी विद्यालयों में पढ़ना चाहिए। उन्होंने यह भी व्यवस्था दी कि यदि कोई अपने बच्चे को सरकारी विद्यालय में न पढ़ाना चाहे तो बच्चे की पढ़ाई पर खर्च की जाने वाली राशि जुर्माने के रूप में सरकार को दे। इसके अलावा उसकी वेतन वृद्धि व प्रोन्नति भी कुछ समय के लिए रोक दी जाए।

सर्वोच्च न्यायालय ने प्रदेश के मुख्य सचिव अनूप चंद्र पाण्डेय को आदेश का पालन न करने के लिए अवमानना की नोटिस भेजी है। हम उम्मीद करते हैं कि मुख्य सचिव इस आदेश को लागू करेंगे ताकि इस प्रदेश के गरीबों के बच्चों को भी अच्छी शिक्षा मिल सके। समाज के सम्पन्न वर्ग के बच्चों के सरकारी विद्यालयों में जाते ही वहाँ की गुणवत्ता ठीक हो जाएगी।

1968 में शिक्षा पर बने कोठारी आयोग ने भारत में समान शिक्षा प्रणाली लागू करने की सिफारिश की थी। किन्तु उसके बाद से बनने वाली किसी भी सरकार ने यह कार्य नहीं किया। दुनिया के जिन देशों ने भी 99-100 प्रतिशत साक्षरता की दर हासिल की है वह सरकार द्वारा संचालित एवं वित्त पोषित शिक्षा व्यवस्था के माध्यम से ही की है। यही व्यवस्था भारत में भी लागू होनी चाहिए। हमारा मानना है कि न्यायमूर्ति सुधीर अग्रवाल का फैसला समान शिक्षा प्रणाली की दिशा में एक कदम है। जब सरकारी विद्यालयों की गुणवत्ता सुधर जाएगी और ज्यादातर लोग अपने बच्चों को सरकारी विद्यालयों में ही भजने लगेंगे तो निजी विद्यालयों की मनमानी कम होगी और ये अपने आप ही अप्रासंगिक हो जाएँगे।

यह भी गौर करने योग्य बात है कि न्यायमूर्ति सुधीर अग्रवाल ने एक अन्य न्यायमूर्ति अजीत कुमार के साथ मिलकर 16 मार्च, 2018 को यह फैसला भी दिया था कि सरकारी वेतन पाने वाले व उनके परिवारजन सरकारी चिकित्सालय में ही अनिवार्य रूप से इलाज कराएँ ताकि सरकारी अस्पतालों की गुणवत्ता में सुधार आ सके।

यदि ये दो फैसले लागू हो जाते तो उत्तर प्रदेश की जनता को शिक्षा एवं चिकित्सा की बेहतर सेवाएँ मिल पातीं। हम आमजन से अपील करते हैं कि विभिन्न राजनीतिक दलों को मजबूर करें कि वे इन मुद्दों को अपने घोषणा पत्र में शामिल करें। वे ऐसे ही दलों को अपना मत दें जो इन फैसलों को लागू करने के लिए प्रतिबद्धता जाहिर करें।

—शिक्षा का अधिकार अभियान की प्रेस विज्ञप्ति

रोजी-रोटी और पानी का संकट

मध्य प्रदेश

रामस्वरूप मन्त्री

उद्योग स्थापना के लिए कहने को पीथमपुर में एशिया का सबसे बड़ा औद्योगिक क्षेत्र विकसित किया गया, मगर यहाँ आए अधिकांश बड़े उद्योगों ने इस क्षेत्र को केवल सरकारी सुविधाएँ हासिल करने और सब्सिडी डकारने का जरिया ही बनाया। यहां आई अधिकांश ऑटो इंडस्ट्री ने अपनी पूरी इकाई स्थापित करने की बजाय इस क्षेत्र में केवल असेम्बलिंग कर अपने वाहन बनाए, जिससे औद्योगिक घरानों को तो आर्थिक लाभ हुआ लेकिन रोजगार के बहुत ज्यादा अवसर पैदा नहीं हुए



लेखक वरिष्ठ पत्रकार हैं।

+919425902303

ramswaroopmantri@gmail.com



मालवा निमाड़ की उपजाऊ मिट्टी, पुरुषार्थ करने वाले लोग, कल-कल बहती नर्मदा और चंबल तथा उसकी सहायक नदियाँ, धरती के गर्भ में छुपे खनिज भण्डार, उथला जल स्तर, स्थानीय राजाओं की विकास एवं रोजगार की सोच के चलते कहावत थी, 'मालव माटी गहन गम्भीर, डग-डग रोटी पग-पग नीर।' लेकिन अब यह कहावत इतिहास की बात हो गयी है। इस इलाके की जनता तो अभी भी गम्भीर यानी सहनशील बनी हुई है मगर ना रोटी (रोजगार) का पता है और ना ही पानी का। रोजगार की तलाश में धार, झाबुआ, खरगोन, बड़वानी से ही नहीं, बल्कि इंदौर जैसे प्रदेश के सबसे विकसित शहर से भी पलायन हो रहा है।

खेती के मामले में भी मालवा निमाड़ पर संकट है। कपास उत्पादन के मामले में निमाड़ का देश में ऊँचा स्थान था, लेकिन अब इस इलाके में कपास उत्पादन करना किसानों ने लगभग खत्म कर दिया है। निमाड़ के गुणवत्तापूर्ण कपास उत्पादन के चलते ही इंदौर, उज्जैन, बुरहानपुर और सनावद में कपड़ा

मिलों, सूत मिलों की स्थापना की गयी थी और इन मिलों में 70 हजार से ज्यादा मजदूर काम करते थे, रोजगार प्राप्त करते थे। इंदौर, उज्जैन की पहचान ही सूती वस्त्र उद्योग के कारण देश और दुनिया में बनी थी। यहाँ की मिलों में उत्पादित लट्ठा और छोट की ख्याति देश ही नहीं, विदेशों तक थी।

इंदौर के होलकर महाराज की भी विकास के प्रति दृष्टि थी। उसी का परिणाम था कि इंदौर में पहली कपड़ा मिल की स्थापना हुई। इंदौर की मालवा यूनाइटेड मिल की स्थापना के लिए जब विदेशों से मशीनें मंगाई गईं, तो मुंबई से इंदौर तक मशीनों को लाने में भारी दिक्कतें आयी। परिवहन के साधन नहीं होने से मशीनों को हाथियों पर लाद कर लाया गया। इस परेशानी को तत्कालीन महाराजा ने समझा और जन्म हुआ बीबीसीआई रेलवे का। डेढ़ सौ साल से ज्यादा पुरानी इस रेलवे की जब स्थापना हुई तो आकार लिया खंडवा अजमेर रेल लाइन ने। इस रेल लाइन के बनने के बाद यातायात सुगम हुआ। उद्योगपतियों की कल कारखाने स्थापित करने की रुचि

और बढ़ी और एक के बाद एक इंदौर, उज्जैन में कई कपड़ा मिलों की स्थापना होने लगी। रोजगार के अवसर के कारण इंदौर की ख्याति औद्योगिक शहर के रूप में होने लगी। लेकिन 1977 में केन्द्र सरकार के एक निर्णय ने इन कपड़ा मिलों की सांसे छीन ली। जनता सरकार के समय केन्द्रीय कपड़ा मन्त्रालय ने पावरलूम को टैक्स मार्क देने का निर्णय लिया जिससे पावरलूम का उत्पादित कपड़ा भी ऊँचे भाव पर बिकने लगा। परिणाम हुआ कि कपड़ा मिलों में मंहंगी मजदूरी और लागत के चलते मिलों के कपड़े की लागत ज्यादा आने लगी और मिलें धीरे-धीरे लगातार घाटे में जाने लगीं। 1990 के बाद एक-एक कर सभी मिलें बन्द हो गईं, मजदूर बेकार हो गये। मिलें बन्द हुईं तो खेतों में पैदा होने वाले कपास की कीमतें भी गिर गयीं और किसानों को कपास उत्पादन घाटे का सौदा लगाने लगा। इस तरह कपास की खेती धीरे-धीरे पूर्ण रूप से बन्द हो गयी। इस अंचल के नेतृत्व की कमी ही मानी जाएगी कि कपड़ा मिलों की बन्दी के बाद यहाँ रोजगार का कोई बड़ा विकल्प नहीं आ पाया। उद्योग स्थापना के लिए पीथमपुर में कहने को एशिया का सबसे बड़ा औद्योगिक क्षेत्र विकसित जरूर किया गया, मगर यहाँ आए अधिकांश बड़े उद्योगों ने इस क्षेत्र को केवल सरकारी सुविधाएँ हासिल करने और सब्सिडी डकारने का जरिया ही बनाया। यहाँ आयी अधिकांश ऑटो इंडस्ट्री ने अपनी पूरी इकाई स्थापित करने की बजाय इस क्षेत्र में केवल असेम्बलिंग कर अपने वाहन बनाए, जिससे उद्योग घरानों को आर्थिक लाभ तो हुआ लेकिन रोजगार के बहुत ज्यादा अवसर पैदा नहीं हुए। परिणामस्वरूप पीथमपुर औद्योगिक क्षेत्र अपने स्थापना के उद्देश्य से ही भटक गया। रही-सही कसर सरकार की अफसरशाही और लालफीताशाही ने पूरी कर दी। 30-40 सालों में भी इस औद्योगिक क्षेत्र में इन्फ्रास्ट्रक्चर ही डेवलप नहीं हो पाया। क्षेत्र में ना सड़के हैं, ना पर्याप्त पानी, जिसके चलते उद्योग दम तोड़ रहे हैं। रोजगार के अभाव में बेरोजगार दो ही रास्ते चुन रहे हैं, पलायन या फिर अपराध और इन दो रास्तों ने खुशहाल मालवा

निमाड़ की दशा और दिशा दोनों बदल दी है।

शहरों से लगी जमीनों की कीमतें तो बढ़ीं लेकिन खेती लगातार घाटे का सौदा होती गयी। अब मालवा निमाड़ में ना तो कपास उत्पादित होता है, और ना मशहूर मालवी गेहूँ। मालवी गेहूँ का तो बीज भी अब दूढ़े से नहीं मिलता। पारंपरिक खेती से किसानों का मोहभंग हो गया है। परिणाम हुआ है कि किसान परिवारों की खेती का रकबा लगातार घट रहा है और किसान पुत्र भी बेरोजगारी की भट्टी में झुलस रहे हैं। सोयाबीन उत्पादन में भी कभी यह इलाका सिरमौर हुआ करता था लेकिन उपज के सही दाम नहीं मिलने से सोयाबीन का रकबा भी लगातार घट रहा है और सोया इंडस्ट्री भी बर्बाद हो गयी है।

इतनी उपेक्षा के बावजूद मालवा निमाड़ के लोगों के पुरुषार्थ ने हार नहीं मानी है। भले ही खेती, उद्योग-धन्धे उजड़ रहे हों, रोजगार के लिए नौजवानों को पलायन करना पड़ रहा हो, फिर भी इस क्षेत्र के लोगों ने हिम्मत नहीं हारी है। आज भी लोग अपना रोजगार और व्यापार बचाने के लिए, खेती को लाभकारी बनाने के लिए तरह-तरह के जतन करने में जुटे हुए हैं।

मध्य प्रदेश के कुल राजस्व में इंदौर-उज्जैन सम्भाग की भागीदारी 50 फीसदी से ज्यादा है। आधे से ज्यादा राजस्व देने वाले इस इलाके के नेतृत्व की आवाज कमजोर होने से बजट की आय का आधा हिस्सा देने के बावजूद इस क्षेत्र को विकास के लिए बजट का 20 फीसदी पैसा भी नहीं मिलता है। यदि हम जितना राजस्व देते हैं उसका 80 फीसदी भी मालवा निमाड़ के विकास पर, रोजगार के अवसर बढ़ाने पर खर्च होने लग जाए तो यह इलाका फिर से 'डग-डग रोटी पग-पग नीर' वाली कहावत को चरितार्थ कर सकता है। मगर सवाल यह है कि इसके लिए आवाज कौन उठाए? वर्तमान नेतृत्व से तो यह उम्मीद करना बेकार ही है, क्योंकि उनके पास ना तो नीति है, ना नीयत। पिछले 15-20 सालों से जो नेतृत्व इस इलाके को मंत्रिमण्डल में ही पर्याप्त

प्रतिनिधित्व नहीं दिला सका वह आम जनता की बात शासन के सामने रख पायेगा यह सोचना ही बेकार है। अब मामा बालेश्वर दयाल जैसा नेता भी शायद ही मध्य प्रदेश की धरती पर पैदा हो, क्योंकि आज के किसी नेता में ऐसी दृष्टि नहीं दिखाई देती जो जनता की समस्या के लिए शासन को, प्रशासन को झुका सके। एक बार जब मामा जी के कार्यक्षेत्र झाबुआ में अकाल पड़ा तो उन्होंने आदिवासियों को पलायन करने से रोका और सड़क पर खंती खोदने के काम में लगा दिया। वे वहाँ से इंदौर आए, इंदौर के कमिश्नर से कहा कि पलायन कर रहे आदिवासी वहाँ पर राहत कार्य में जुट गये हैं। वह सड़क बनाने का और खंती खोदने का काम कर रहे हैं। उन्हें मजदूरी का भुगतान करने का आदेश दो। मामा जी के आग्रह पर इंदौर के तत्कालीन कमिश्नर ने मजदूरों की गणना कर उन्हें मजदूरी भुगतान करने के आदेश दिये। हालाँकि उम्मीद पूरी तरह टूटी नहीं है, यह उम्मीद है मालवा निमाड़ की संवेदनशील जनता। नर्मदा को इंदौर लाने का आन्दोलन हो या फिर नर्मदा को बचाने और विस्थापितों को बसाने के लिए मेघा पाटकर के नेतृत्व में चलने वाला जनांदोलन, ये आन्दोलन उम्मीद की किरण इसलिए हैं कि ये जनता के लिए, जनता के आन्दोलन थे और हैं तथा इन्होंने हक हासिल करने में इतिहास रचा है। अब मालवा निमाड़ को बचाने के लिए, पलायन रोकने के लिए, यहाँ का पैसा यही के विकास में खर्च करने के लिए जन आन्दोलन की जरूरत है। लम्बे अरसे बाद मध्य प्रदेश की सरकार में मालवा निमाड़ को पर्याप्त प्रतिनिधित्व मिला है। नयी सरकार भी नये उद्योगों में, धन्धों में स्थानीय लोगों को रोजगार देने की बात कर रही है। तो ऐसे में मालवा निमाड़ के लोगों को भी उठ खड़ा होना होगा और मांग करनी होगी कि मालवा निमाड़ के 16 जिलों से जितना राजस्व मध्यप्रदेश के खजाने को मिलता है, कम से कम वह पैसा तो यहीं के विकास पर खर्च हो।

□

बिछी बिसात सियासत की

उत्तर प्रदेश

शिवाशंकर पाण्डेय

भाजपा के वरिष्ठ नेता शिव प्रसाद मिश्र दबी जुबान स्वीकार भी करते हैं कि पिछली बार तगड़ी हार से सबक लेने वाले विपक्षीदल इस मर्तबा चूक से बचने की कोशिश जरूर करेंगे। उधर, काशी क्षेत्र के महामन्त्री अमरनाथ यादव की टिप्पणी थोड़ा अलग हटकर है। साफतौर पर वे कहते हैं कि 'सबका साथ सबका विकास' का नारा देने के बाद भाजपा सरकार ने उस पर कार्य भी किया। पीएम नरेन्द्र मोदी की सीट काशी के प्रभारी व पूर्व विधायक प्रभाशंकर पाण्डेय भी कहते हैं कि मोदी सरकार ने बगैर जातिपात के भेदभाव के सभी वर्गों के लिए बेहतर कार्य किया।



लेखक उ.प्र. के वरिष्ठ पत्रकार और सबलोग पत्रिका ब्यूरो से सम्बद्ध हैं।
+918840338705, 9565694757
Shivas_pUndey@rediffmail.com



देश के सबसे बड़े सूबे उ.प्र. में संसदीय चुनाव की हलचल तेज हो गयी है। 80 संसदीय सीट वाले राज्य में यहाँ सियासी माहौल गरमाने लगा है। एक से बढ़कर एक चुनावी पैतरे और तरह तरह के दाँव-पेंच का दौर तेजी पर है। सत्तासीन भारतीय जनता पार्टी पूरी ताकत के साथ चुनाव मैदान है तो सपा, बसपा का गठबन्धन भी दम खम दिखा रहा है। अगर, भाजपा के साथ उसकी उपलब्धियों का लम्बा चौड़ा खाका है तो विपक्षी दलों के पास उसे खारिज करने व नकारने का तगड़ा हथियार। पिछली बार बुरी तरह पराजित विपक्षी दल इस बार कोई चूक नहीं दोहराना चाहते। महागठबन्धन में सीटों का जो बंटवारा हुआ है, उसमें 38 सीटों पर बसपा अपना उम्मीदवार उतारेगी, जबकि सपा 37 और रालोद तीन सीट पर उम्मीदवार उतारने की रणनीति अपनाने जा रहा है। बहरहाल, पिछले चुनाव की बात करें तो 2014 के संसदीय चुनाव में उ.प्र. के भीतर कुल 80 सीटों में भारतीय जनता पार्टी (भाजपा) को 73 सीटों पर विजय मिली

थी। दो सीटें अपनादल ने जीती थीं, जबकि पाँच सीटें समाजवादी पार्टी और दो सीटें काँग्रेस के खाते में गयी थीं। खास बात यह है कि बसपा का खाता तक नहीं खुल सका था। वोटों के बीच मोदी का जादू जमकर चला। रेकार्डतोड़ वोटों से भाजपा को जीत मिली थी, पर इस बार का परिदृश्य वैसा नहीं है। भाजपा के वरिष्ठ नेता शिव प्रसाद मिश्र दबी जुबान स्वीकार भी करते हैं कि पिछली बार तगड़ी हार से सबक लेने वाले विपक्षीदल इस मर्तबा चूक से बचने की कोशिश जरूर करेंगे। उधर, काशी क्षेत्र के महामन्त्री अमरनाथ यादव की टिप्पणी थोड़ा अलग हटकर है। साफतौर पर वे कहते हैं कि सबका साथ सबका विकास का नारा देने के बाद भाजपा सरकार ने उस पर कार्य भी किया। पीएम नरेन्द्र मोदी की सीट काशी के प्रभारी व पूर्व विधायक प्रभाशंकर पाण्डेय भी कहते हैं कि मोदी सरकार ने बगैर जातिपात के भेदभाव के सभी वर्गों के लिए बेहतर कार्य किया। गरीबों के हितों पर ध्यान देते हुए छह करोड़ गरीबों को रसोई गैस कनेक्शन,

साढ़े आठ करोड़ शौचालय, पचास करोड़ लोगों को आयुष्मान भारत योजना का सीधा लाभ दिया है। इसके अलावा किसानों को छह हजार रूपए आर्थिक सहायता देने की घोषणा भी अपना असर दिखायेगी। मलाक हरहर के ऋषि कुमार भी कमोबेश ऐसे ही बयानों से इत्तेफाक रखते हैं।

फिलहाल, इस तरह के अटकल व सियासी कयासों के बीच उ.प्र. में संसदीय चुनाव की दशा की तस्वीर अभी ज्यादा साफ तो नहीं है पर इतना तय है कि बहुत कुछ प्रत्याशियों के ऊपर निर्भर करेगा।

भाजपा : मजबूत पक्ष-विकास कार्य में तेजी, सड़क, पुल, फ्लाईओवर से लेकर बिजली आपूर्ति में बेहतरी, जातिगत आधार से ऊपर उठकर कार्य आदि ऐसी तमाम बातें हैं जो भाजपा के लिए प्लस हैं। प्रधानमंत्री के रूप में नरेंद्र मोदी और मुख्यमंत्री के तौर पर योगी आदित्यनाथ आम जनता के बीच चर्चा में हैं। भाजपा ने चुनावी तैयारी के मद्देनजर 'भारत के मन की बात मोदी के साथ' नाम से देश के तीन सौ संसदीय और चार हजार विधानसभा क्षेत्र में रथयात्रा की शुरुआत की है। इन पर रखी सात हजार पेटिकाओं में सभी वर्गों का सुझाव एकत्रित कर उनको कहीं न कहीं से आम वोटों से जोड़ने की रणनीति चल रही है।

कमजोर पक्ष-सत्ता में आने के बाद से ही पार्टी के कैंडिडेट नेताओं को दरकिनार कर, ऐन मौके पर, दलबदलुओं को सरकार और संगठन में तवज्जो दिये जाने का लगातार आरोप। पार्टी के भीतर असन्तुष्टों की लम्बी फौज, टिकट ना मिलने पर दल छोड़ने वाले और चुपचाप घर बैठने वाले से भी निपटना कम चुनौती नहीं होगी। भाजपा के सहयोगी दल का समय-समय पर असन्तुष्ट हो जाना। कैबिनेट मन्त्री व सुहेलदेव भारतीय समाज पार्टी के मुखिया ओमप्रकाश राजभर का आए दिन विरोध में बयान का काफी खराब मैसेज जा रहा है। नौ फरवरी को गोरखपुर में ओमप्रकाश राजभर ने एक बार फिर सार्वजनिक मंच से ऐलान किया कि 24 फरवरी को पीएम मोदी के संसदीय क्षेत्र काशी से वे एनडीए का साथ छोड़ने का ऐलान करने जा

रहे हैं। इतना ही नहीं, उन्होंने ये भी दावा किया कि भाजपा के खिलाफ वे सभी सीटों पर अपना उम्मीदवार उतारने के लिए तैयार हैं। अभी बीते महीने जनवरी में अपनादल (एस) की मुखिया अनुप्रिया पटेल की तरफ से भी साथ छोड़ देने की बात सार्वजनिक मंच से कही जा चुकी है। अभी हाल में भाजपा की पूर्व विधायक शशिबाला पुण्डीर भाजपा को अलविदा कह कर सपा में शामिल हो गयीं। आने वाले दिनों में तेज भगदड़ होने की भी सम्भावना ज्यादा है।

विपक्षी दल : मजबूत पक्ष-क्षेत्रीय दलों का स्थानीय स्तर पर प्रभाव। समाजवादी पार्टी, बसपा और रालोद का पूर्वी और पश्चिमी उ.प्र. के अलग-अलग हिस्से में प्रभाव। सत्तासीन दल से असन्तुष्ट लोगों का एक प्लेटफार्म पर आ जाना। जानकारों की मानें तो, पूर्वी उ.प्र. में बसपा और समाजवादी पार्टी तकरीबन दस सीटों पर अपना असर दिखायेगी तो पश्चिमी उ.प्र. के पाँच जिले में रालोद अपना प्रभाव दिखा सकता है।

कमजोर पक्ष-भाजपा को सत्ता से हटाने के लिए कमर कस कर खड़े विपक्षी दलों के पास अपना खुद का कोई ऐसा खास एजेण्डा नहीं दिख रहा जो आम जनता का ध्यान खींच सके। सत्ता में बतौर सहयोगी दल की भूमिका में रहे अपनादल (एस) के पूर्व अध्यक्ष जवाहर पटेल सवालिया टिप्पणी करते हैं—'सिर्फ मोदी हटाओ, भाजपा हटाओ' के लिए धुर विरोधी दलों का चुनावी गठबन्धन आम वोटों को किस तरह से ज्यादा प्रभावित कर सकेगा? वो दावे के साथ कहते हैं कि चुनाव की असल तस्वीर अभी साफ नहीं है।

मुलायम सिंह हुए 'मुलायम'-संसद के भीतर 13 फरवरी को सपा के प्रमुख नेता मुलायम सिंह यादव ने नरेंद्र मोदी को बेहतर प्रधानमंत्री बताकर उनके दुबारा फिर से प्रधानमंत्री बनने की अपनी हार्दिक इच्छा जाहिर कर दी। ऐसा कर के मुलायम ने, ना केवल उ.प्र. के प्रमुख दल बसपा, सपा और रालोद के महागठबन्धन को झटका दिया, बल्कि काँग्रेस की प्रियंका गाँधी वाड्रा की रफ्तार पर भी ब्रेक लगाने का काम कर

दिया। राजनीति के मंजे खिलाड़ी मुलायम सिंह के इस कदम को भले ही कुछ लोग 'एज फैक्टर की भूल' कहें पर मुलायम सिंह और उनकी सधी राजनीति को नजदीक से समझने-बूझने वाले लोग इसे उनकी कारगर राजनीतिक चाल मान रहे हैं। अपने बेटे अखिलेश के बतौर मुख्यमंत्री काम-काज को लेकर समय-समय पर अंगुली उठाते हुए आगाह करते रहे कि कई मंत्रियों की बेलगाम कार्य शैली से पार्टी और सरकार की छवि धूमिल हो रही है, इसे न रोका गया तो वोट खारिज कर देगा। चुनाव में जनता ने सपा को पूरी तरह से नकार दिया। इस बार महागठबन्धन पर भी मुलायम सिंह कई मर्तबा असहमति जाहिर कर चुके हैं। गौरतलब यह भी है कि रालोद प्रमुख अजित सिंह के साथ मुलायम सिंह की राजनीतिक कटुता जगजाहिर है, खुद प्रेसवार्ता में मुलायम सिंह ने साफ किया कि पिछले तीस साल से उनकी और अजित सिंह की बोलचाल तक बन्द है। बसपा की मायावती से मुलायम सिंह की कटुता भी किसी से छिपी नहीं है। याद करें, 1999 में अटल की सरकार गिरने के तत्काल बाद सोनिया गाँधी ने प्रधानमंत्री की दावेदारी की थी और चिट्ठी लेकर राष्ट्रपति भवन जा पहुँची थीं। मुलायम सिंह यादव ने सोनिया के विदेशी मूल का मुद्दा उठाकर, न सिर्फ समर्थन देने से इनकार किया बल्कि बाकायदे चिट्ठी लिखकर सार्वजनिक रूप से खुला विरोध भी किया। नतीजा, सोनिया का पीएम बनने और काँग्रेस का सत्तासीन होने का सपना धराशायी हो गया।

बहरहाल, चुनाव का परिणाम जो भी हो, इतना तो तय है कि विपक्षी दलों ने अगर सूझ बूझ के साथ चुनाव लड़ा तो भाजपा के लिए केन्द्र में सरकार बनाने की राह ज्यादा आसान न होगी। खासकर तब, जब गठबन्धन के नाम पर विपक्षी दल एक होने व बिखरने के नाम पर बार बार अपना विष्वास खोते चल आए हैं। जनता का यह भरोसा तो विपक्षी दलों को बटोरना ही पड़ेगा।

□

काँग्रेस का प्रियंका कार्ड



तमन्ना फरीदी

युवाओं को मोदी के खिलाफ बड़ा हथियार बनाना चाहती काँग्रेस महासचिव और पूर्वी उत्तर प्रदेश की लोकसभा चुनाव प्रभारी प्रियंका गाँधी वाड़ा के उत्तर प्रदेश की राजधानी लखनऊ आगमन पर यहाँ की सड़कें काफी हद तक काँग्रेसमय दिखाई दीं। राहुल-प्रियंका और ज्योतिरादित्य सिन्धिया के करीब 15 किलोमीटर लम्बे रोड शो के दौरान कांग्रेसियों का जो हुजूम सड़कों पर दिखाई दिया, उससे काँग्रेस आलाकमान कितना सन्तुष्ट हुआ होगा यह तो वह ही जाने, लेकिन रोड शो में इतनी भी भीड़ नहीं दिखाई दी जिससे विरोधियों का मुंह बन्द किया जा सकता था। फिर भी काँग्रेस खुश है। ऐसा इसलिए है क्योंकि ऐसा नजारा देखने के लिए लम्बे समय से काँग्रेस की आँखें तरस रही थीं। रोड शो में मीडिया से लेकर आम कांग्रेसियों तक का ज्यादा फोकस प्रियंका गाँधी वाड़ा पर ही रहा। उधर, रोड शो के दौरान काँग्रेस अध्यक्ष राहुल गाँधी अपनी उपस्थिति दर्ज कराने की कोशिशों के क्रम में राफेल विमान के डमी को एक डंडे के सहारे उड़ाकर (लहराकर) मोदी के प्रति अपने इरादे साफ कर रहे थे। राहुल ने राफेल दिखाया तो कांग्रेसियों ने 'चौकीदार चोर है' के नारे लगाकर राहुल का उत्साहवर्धन किया। प्रियंका के रोड शो में बड़ी संख्या में युवाओं की उपस्थिति देखने को मिली, लेकिन यह उत्साह कब तक बरकरार रह पायेगा, यह काँग्रेस के सामने यक्ष प्रश्न रहेगा। इसके अलावा प्रियंका के सामने भाई राहुल गाँधी और पति रॉबर्ट वाड़ा का साया भी मंडराता रहेगा। प्रियंका के आते ही विपक्ष ने राहुल गाँधी को फ्लॉप साबित करने की मुहिम शुरू भी कर दी है। वहीं रॉबर्ट वाड़ा भी काँग्रेस के न चाहते हुए भी चुनावी मुद्दा बनते चले जा रहे हैं। काँग्रेस महासचिव प्रियंका गाँधी की टीम से जो संकेत मिल रहे हैं उससे तो ऐसा ही लगता है कि प्रियंका उ.प्र. में युवाओं और किसानों पर ज्यादा जोर देंगी। इसके पीछे

की वजह इन किसानों और युवाओं का बड़ा वोट बैंक है। बात युवाओं की कि जाए तो काँग्रेस को ऐसा लगता है कि रोजगार या अच्छा कैरियर बनाने के लिए देश का युवा इधर-उधर भटक रहा है। प्रियंका युवाओं को मोदी के खिलाफ बड़ा हथियार बनाना चाहती हैं। मगर युवा प्रियंका पर भरोसा करें, इससे पहले युवाओं को गाँधी परिवार से कुछ ऐसे सवाल का भी जवाब मिलना चाहिए जो भले ही मध्य प्रदेश और राजस्थान से जुड़े हों लेकिन उत्तर प्रदेश के सन्दर्भ में जिन्हें अनदेखा नहीं किया जा सकता है। बात बीते साल हुए विधानसभा चुनाव की है, जब चुनाव जीतने के बाद मध्य प्रदेश में युवा नेता ज्योतिरादित्य सिन्धिया की जगह बुजुर्ग कमलनाथ को और राजस्थान में युवा सचिन पायलट की जगह बुजुर्ग अशोक गहलोत को मुख्यमंत्री बना दिया गया था। कहा जाता है कि कमलनाथ और गहलोत को सीएम बनाए जाने में प्रियंका का बड़ा हाथ था। उन्हीं की सहमति के बाद सचिन को डिप्टी सीएम की कुर्सी पर सन्तोष करना पड़ा था। वही सिन्धिया को लोकसभा चुनाव की जिम्मेदारी दे दी गयी यह तब हुआ जबकि मध्य प्रदेश में ज्योतिरादित्य सिन्धिया और राजस्थान में सचिन पायलट ने काँग्रेस की सत्ता की वापसी के लिए पांच साल तक लगातार मेहनत की थी। इन्हीं युवा नेताओं की मेहनत के बल पर दोनों राज्यों में काँग्रेस की वापसी हो पाई थी। दोनों युवा नेता तेजतर्रार और राहुल गाँधी के वफादार भी थे, लेकिन जब सीएम के नाम पर फैसेले की बारी आयी तो प्रियंका ने पासा पलट दिया। इसी वजह से युवा नेता सिन्धिया और सचिन पायलट हाथ मलते रह गये। कहने को तो एक को डिप्टी सीएम बना दिया गया लेकिन संवैधानिक रूप से इस पद की कोई मान्यता नहीं है। मध्य प्रदेश और राजस्थान में जब प्रियंका वाड़ा युवाओं के खिलाफ खड़ी नजर आई तो उ.प्र. में कैसे उम्मीद लगाई जा सकती है कि वह

युवाओं का साथ देंगी। उनकी म.प्र., राजस्थान में सीएम चयन करने की रणनीति के बाद जो इमेज बनी है, वह युवा विरोधी ही लगती है। सबसे बड़ी बात यह है कि मध्य प्रदेश में कमलनाथ और राजस्थान में अशोक गहलोत के कामकाज पर भी सवाल उठने लगे हैं, जिस तरह से किसानों का कर्ज माफ करने के नाम पर मजाक उड़ाया गया वह छिपा नहीं है। इसी प्रकार गो-तस्करों पर रासुका लगाए जाने के बाद काँग्रेस अध्यक्ष राहुल गाँधी की नाराजगी की खबर आने के बाद राहुल का छद्म हिन्दुत्व भी बीजेपी के निशाने पर है। म.प्र. में अपराध की घटनाओं में भी लगातार इजाफा हो रहा है। बीजेपी के कई नेता मारे जा चुके हैं। बात राजस्थान की की जाए तो वहाँ सचिन पायलट के साथ काँग्रेस आलाकमान ने जो विश्वासघात किया उसके खिलाफ वहाँ के गुर्जरों में काफी नाराजगी है। वह आरक्षण को लेकर रेलवे ट्रैक पर बैठे हुए हैं तो सचिन पायलट को सीएम नहीं बनाए जाने की नाराजगी भी उनके बयानों में सामने आ रही है। खैर, बात उ.प्र. की ही कि जाए तो पूर्वी उत्तर प्रदेश की प्रभारी बनाई गई प्रियंका को यहाँ की करीब दो दर्जन लोकसभा सीटों के लिए काँग्रेस की जमीन तो मजबूत करनी ही होगी, इसके अलावा रायबरेली और अमेठी के नतीजे भी प्रियंका की सियासत की गहराई नापेंगे। अमेठी में राहुल के लिए राह बहुत ज्यादा आसान नहीं है। वहाँ किसान भूमि अधिग्रहण का मुआवजा नहीं मिलने से नाराज हैं। अगर प्रियंका ने पूर्वी उत्तर प्रदेश में 100 प्रतिशत परिणाम दे भी दिया तब भी अमेठी में राहुल की जीत फीकी रहती है तो थोड़े सवाल तो होंगे ही। इसी तरह रायबरेली भी प्रियंका की परीक्षा लेगा। दोनों ही जगह के लिए प्रियंका नयी नहीं।

लेखिका सबलोग के उत्तर प्रदेश की ब्यूरो प्रमुख हैं।

+919451634719

tamannafaridi@gmail.com

□

खनन के विरोध में आन्दोलन

गुजरात

मुदिता विद्रोही

जून 2016 में इन जमीनों पर खनन करने के लिए तीन अलग-अलग जन सुनवाइयाँ आयोजित की गयीं। तीनों जनसुनवाइयों में सौ प्रतिशत लोगों ने खनन के विरोध में, अलग अलग, लिखित रूप में मत दिया। इसके बावजूद कम्पनी को पर्यावरणीय मंजूरी दे दी गयी। इस विस्तार के हजारो लोग जहाँ पीढियों से खेती और पशुपालन से अपना गुजारा चलाते हैं वहाँ, कम्पनी की वेबसाईट के अनुसार, कम्पनी खनन के काम के लिए तीन चरण में स्क्रिड और अनस्क्रिड मिलाकर मात्र 120 लोगों को रोजगार देगी।



लेखिका गुजरात लोक समिति के साथ जुड़ कर गुजरात में कुदरती संसाधनों के लिए चल रहे संघर्षों में सक्रिय हैं।
+919825430063
mvidrohi@gmail.com



गुजरात को देश में सबसे लम्बा दरिया किनारा मिला है। उसी समुद्र के किनारे ने गुजरात को समृद्ध बनाने में भी बड़ी भूमिका निभायी है। लेकिन आज स्थिति यह है कि यही पूरा का पूरा समुद्र का किनारा ही लोगों की और पर्यावरण की तबाही का उदभव स्थान बन गया है। समुद्र के किनारे-किनारे जमीन में कई तरह के खनिज हैं। इन्हीं खनिजों के लिए इस जमीन को सरकार और निजी कम्पनियों द्वारा अधिग्रहित किया जा रहा है। ज्यादातर जगहों पर यह काम नियम कानूनों की अवमानना कर और स्थानीय लोगों के विरोध के बावजूद उनके ही संसाधनों का दोहन कर किया जा रहा है।

गुजरात के भावनगर जिले में एक से ज्यादा जगहों पर विरोध में आन्दोलन चल रहे हैं। महुवा तहसील के 9 और तलाजा तहसील के 4 मिलाकर कुल 13 गाँव हैं-नीचा कोटडा, ऊँचा कोटडा, तल्ली, कलसार, दयाल, मेथला, बाज़भोर, मधुवन, जाजमेर, नवा राजपरा, जुना राजपरा, रेलिया और गदुला। कुल तेरह गावों की जमीन में चूने का पत्थर या लाइमस्टोन

है। सभी गाँवों की शत प्रतिशत जनसंख्या खेती और पशुपालन से अपना गुजारा करती है। यहाँ की जमीन उपजाऊ है और यहाँ साल में कम से कम दो फसलें और कहीं-कहीं तो तीन फसलें भी ली जाती हैं। इन तेरह गाँवों की करीब 1500 हेक्टेयर जमीन अल्ट्राटेक कम्पनी को सरकार द्वारा दे दी गयी है। इन 1500 हेक्टेयर में से 150 हेक्टेयर जमीन मालिकों के पास से कम्पनी ने आज से बीस साल पहले ले ली थी। लेकिन इतने साल तक उसका वास्तविक कब्जा नहीं लिया था। बाकी की 90 प्रतिशत जमीन यानी की करीबन 1350 हेक्टेयर जमीन निजी मालिकी की होने के बावजूद सरकार ने यह कह कर कम्पनी के नाम कर दी कि जमीन भले ही मालिक की हो परन्तु उसके नीचे का खनिज सरकार की मालिकी का होता है इसलिए 50 साल की लीज पर खनन के लिए कम्पनी को दी जाती है। सबसे पहले जमीन 'इंडियन रेयोन' कम्पनी के लिए ली गयी, उसके बाद ग्रासिम और अन्त में 2015 में अल्ट्राटेक कम्पनी के नाम कर दी गयी।

यह पूरा विस्तार खेती और पशुपालन का विस्तार है। चारों तरफ हरे-हरे खेत और बाड़ियाँ हैं। सभी तरह के फल, सब्जियाँ और धान यहाँ उगते हैं। खेती और पशुपालन भी एक-दूसरे के पूरक व्यवसाय हैं। एक के बिना दूसरे का जिन्दा रह पाना मुश्किल है। खनन का काम शुरू होते ही धीरे-धीरे सारी जमीन चली जाएगी और जो बचेगी वह भी खेती के लायक नहीं रहेगी। ऐसी स्थिति में पशुपालन कर पाना भी असम्भव हो जाएगा। लोगों के जीवन का आधार ही छिन जाएगा। इस बात को लोग अच्छी तरह से समझते हैं और इसीलिए सभी लोग खनन की मंजूरी और प्रवृत्ति का पूरा विरोध कर रहे हैं।

खनन के दुष्प्रभावों से तो हम सब वाकिफ हैं ही। खनन भले ही कुछ जमीन पर हो पर उस विस्तार की पूरी जमीन खेती के लायक नहीं बचती। गहराई तक खुदाई होने के कारण सारा भूगर्भ जल खिंच कर उस तरफ चला जाता है और बाकी के कुएँ सूख जाते हैं। सैकड़ों सालों से बने पानी के नैसर्गिक बहाव की दिशा में अड़चन आने से कहीं पानी इकट्ठा हो जाता है, कहीं अपने बहाव की दिशा बदल लेता है और खेती में बड़ा नुकसान पहुँचाता है। जमीन के अन्दर का लाइमस्टोन यहाँ कुदरती दीवाल का काम करता है और दरिया के पानी को अन्दर आने से रोकता है। जमीन के अन्दर से अगर लाइमस्टोन को निकाल लिया जाय तो इस खाली जगहों को भरने के लिए समुद्र का पानी अन्दर घुसेगा और पूरे विस्तार के भूगर्भजल और जमीन को खारा बना देगा। यहाँ पड़ोस के अमरेली जिले में अल्ट्राटेक ने इसी तरह लाइमस्टोन के खनन का काम किया है जिसके परिणामस्वरूप पूरा विस्तार बंजर और खारा बन गया है। जहाँ मीठा पानी था वहाँ भी अब समुद्र का पानी घुस गया है। जो उपजाऊ जमीन थी वह अब बंजर बन गयी है। लोग अपने खेतों से बेदखल हो गये और रोजगार के अन्य कोई अवसर न होने पर बड़ी जनसंख्या बेरोजगार और बेबस है। खनन से उड़ती डस्ट (धूल) उड़-उड़ कर, आस-पास के विस्तारों में, जहाँ खेत हैं, वहाँ फसलों पर जा कर बैठती है और खेती को असम्भव बना देती है। लगातार उड़ने वाली

डस्ट के कारण थल पर काम करने वाले मजदूर और पूरे विस्तार में रहने वाले लोगों के स्वास्थ्य, खास करके फेफड़ों पर गम्भीर असर पड़ता है। लाइमस्टोन में सिलिका होने की वजह से खनन में काम करने वाले कामगारों को सिलिकोसिस की बीमारी होने का भी गम्भीर खतरा रहता है। इसके आलावा कैंसर जैसे जानलेवा रोगों का भी खतरा रहता है। इन सभी बातों को अनदेखा करते हुए मात्र और मात्र एक निजी कम्पनी के फायदे के लिए खेती की पूरी जमीन सरकार ने कम्पनी के हाथ में दे दी है।

कानूनी तौर पर गाँव के लोगों द्वारा नेशनल ग्रीन ट्रिब्यूनल में केस दाखिल किया गया। पूना में केस चला परन्तु फरवरी 2019 में कोर्ट ने केस को यह कह कर खारिज कर दिया कि आपने केस दर्ज करवाने में बहुत देरी कर दी है। अब गाँव के लोग सर्वोच्च न्यायालय का दरवाजा खटखटाने की तैयारी कर रहे हैं। आखिर कोई तो रास्ता खोजना होगा।

एक तरफ कानूनी लड़ाई चल रही है। लेकिन यह बात जाहिर है कि इस तरह के किसी भी संघर्ष को सिर्फ कानूनी लड़ाई लड़ कर सफलता प्राप्त नहीं होती, इसलिए स्थानीय लोग अहिंसक आन्दोलन चलाते रहें हैं। बार-बार लोगों ने सरकार में आवेदन पत्र दिये हैं, अधिकारियों से मिल कर अपनी बात रखने की कोशिश की है, धरना दिया है, सभाएँ की हैं, पत्रिकाएँ निकाली हैं और हर सम्भव कोशिश की है। दो-एक महीने पहले सभी गाँवों के लोगों ने बड़ी संख्या में इकठे हो कर एक शान्ति मार्च निकाला और खनन की जगह पर जा कर सभी महिला और पुरुष ने खोदी हुई जमीन को फिर से मिट्टी से भर दिया। जब-जब भी कम्पनी की ट्रक लाइमस्टोन ले कर निकलती है, गाँव की महिलाएँ रास्ते पर ट्रक के आगे सो जाती हैं और ट्रक को किसी हाल में नहीं निकलने देती। इस तरह महिलाओं ने भी अपनी अपार शक्ति का परिचय दिया है। कभी-कभी काम रुकता है पर फिर से दोगुनी तेजी से शुरू हो जाता है। कोर्ट में से काम पर स्टे नहीं मिल रहा। गाँव के लोग अपनी आँखों के सामने अपनी जमीन

को इस तरह तबाह होता नहीं देख पाते। पिछले महीने, 2 जनवरी 2019 के दिन सभी गाँववालों ने विवश होकर फिर एक बार शान्ति यात्रा के रूप में खनन की जगह पर जाना तय किया। इरादा शान्ति मार्च करते हुए, पहुँच कर शान्ति से काम रोकने की विनती करने का था। गाँवों के महिला, पुरुष, जवान, बूढ़े और बच्चे सभी इस यात्रा में जुड़े और लगभग तीन हजार लोग यात्रा करते हुए खनन की जगह की ओर बढ़े कि रास्ते में ही बड़ी संख्या में पुलिस की फौज मिली। लोगों के आते ही पुलिस ने आँसू गैस छोड़ना शुरू किया। लोग फिर भी पीछे नहीं हटे और आगे बढ़ते गये। पुलिस ने और ज्यादा आँसू गैस के गोले छोड़े और फिर बेरहमी से लाठीचार्ज शुरू किया। लाठीचार्ज करते समय उन्होंने महिलाएँ, बुजुर्ग या बच्चे किसी को भी नहीं बख्शा। इस घटना में अति गम्भीर रूप से लोगों को चोट आयी। इसके पश्चात 92 महिला और पुरुषों को गिरफ्तार कर लिया गया जिसमें बूढ़ी औरतें भी शामिल थीं। सभी को कस्टडी में ले जा कर खूब बेरहमी से पीटा गया, यहाँ तक की औरतों के कपड़े तक फट गये। सभी पर पुलिस ने दफा 307 लगायी और किसी को जमानत नहीं मिली। डेढ़ दिन की कस्टडी के बाद सभी को कोर्ट ने भावनगर जेल में भेज दिया। 9 दिन तक जेल में रहने के पश्चात् काफी कोशिशों के बाद लोगों को जमानत मिल पायी। इस घटना के बाद पूरे इलाके में दफा 144 लगा दी गयी है। 92 लोगों की जमानत हो जाने के बाद भी गाँव के अन्य कई लोगों पर एफ.आई.आर. दर्ज की गयी। किसी को किसी भी तरह के आन्दोलन, सत्याग्रह करने की इजाजत नहीं। दूसरी तरफ खनन का काम तेजी से चल रहा है।

फिलहाल आन्दोलन के युवा नेता भरत भील की अगवानी में लोग बड़ी संख्या में ऊँचा कोटडा गाँव के मन्दिर में धरना लगा कर बैठे हुए हैं। भरतभाई भील ने घोषणा की है कि अगर आने वाले कुछ दिनों में उनकी बात सरकार बिलकुल नहीं मानेगी तो उनके पास कोई रास्ता नहीं बचेगा और वे आमरण उपवास पर बैठ जायेंगे।

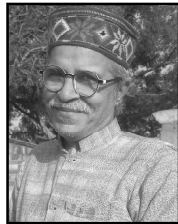
□

प्रदूषण के खिलाफ नयी जंग

दिल्ली

विमल भाई

पर्यावरणीय जन-सुनवाई एक अत्यन्त महत्वपूर्ण संवैधानिक अधिकार है जहाँ लोग अपनी बात रख पाते हैं, किन्तु देशभर का अनुभव यही बताता है कि सरकार किसी तरह जन-सुनवाई की रस्म पूरी करती है और फिर परियोजना को आगे बढ़ाने के लिए कागजी कार्रवाई करती रहती है। इसलिए जब 16 मेगावाट की परियोजना के बुरे असर को दूर नहीं किया गया है और ना ही इस बारे में कोई गम्भीर पहल नजर आती है, तब प्लान्ट की क्षमता और 24 मेगावाट बढ़ाने के क्या दुष्परिणाम होंगे सहज ही समझा जा सकता है।



लेखक उत्तराखंड में गंगा यमुना घाटी में 1988 से बाँधों के सवाल पर कार्यरत हैं और माटू जन संगठन के समन्वयक हैं।
+919718479517
bhaivimal@gmail.com



दरअसल दिल्ली में कूड़े के बड़े-बड़े ढेर जगह-जगह बन गये हैं। दिल्ली में रोज हजारों टन कूड़ा निकलता है, जिसका निस्तारण बहुत जरूरी है। इन कचरे के पहाड़ों के खतरे भी बहुत हैं। कहीं-कहीं पर इन कचरे के पहाड़ों के टूटने बिखरने से कई जानें तक गयी हैं। अदालतों ने इस पर कड़ा रुख लेते हुए सरकार से इसके उपाय खोजने को कहा और कई दिशा-निर्देश भी दिये, मगर अफसोस सरकार तो सरकार ही होती है। कूड़ा निस्तारण के लिए एक सरल और उपयोगी सुझाव कूड़े से बिजली बनाने का है। मगर इसमें भी मापदण्डों की अवहेलना और गलत स्थान के चुनाव से बड़ी दुर्दशा हो रही है। ऐसी तमाम चीजों ने एक नये तरह का प्रदूषण खड़ा कर दिया है।

27 जनवरी को यमुना किनारे के पूर्वी दक्षिणी इलाके में इसी तरह की परियोजना से बेहाल लोगों ने सड़कों पर निकल कर मानव श्रृंखला बनायी। उन्होंने कहा कि वे प्रदूषित हवा को नहीं सहेंगे। लोग नारे लगा रहे थे 'साफ हवा हमारा अधिकार है, अपना अधिकार हम लेकर रहेंगे', 'जहरीला प्लान्ट

बन्द करो'। जहरीले धुँएँ व सरकार द्वारा मान्यता प्राप्त इस जहरीले प्रदूषण के खिलाफ आवाज जारी है।

सुखदेव विहार, जसोला हाइट्स और जसोला के दूसरे पॉकैट्स, गम्फार मंजिल, हाजी कालोनी, जोहरी फॉर्म, ओखला विहार, शाहीन बाग, अबुलफजल, बटला हाउस, मसीहगढ़, बदरपुर, मदनपुर खादर तथा दिल्ली के अन्य रिहायशी इलाकों से सैकड़ों की संख्या में स्त्री-पुरुष-बच्चे मानव श्रृंखला और उसके बाद रैली में शामिल हुए।

मामला कूड़े से बिजली बनाने वाले पावर प्लान्ट की वजह से फिर से सम्बन्धित बीमारियाँ बढ़ने, पानी खराब होने जैसी तमाम समस्याओं से जूझना था। लोग पहले ही 16 मेगावाट परियोजना से परेशान थे। अब उसको 40 मेगा वाट करने की सरकारी योजना बनी।

प्रदूषण से बेहाल दिल्ली की 10 लाख के करीब घनी आबादी के बीच कूड़े से बिजली बनाने वाली तिमारपुर-ओखला वेस्ट मैनेजमेन्ट कम्पनी के सुखदेव विहार के पास ओखला में चल रहे 16 मेगावाट के प्लान्ट

को 40 मेगा वाट करने के लिए 16 जनवरी को पर्यावरणीय जन-सुनवाई का आयोजन किया गया था। मगर लोगों ने भरपूर ताकत से और एक रणनीति के तहत विरोध किया और जन-सुनवाई रद्द करवायी, सम्भवतः दिल्ली में ऐसा पहली बार हुआ।

15 जनवरी को एक प्रतिनिधिमण्डल भी जाकर इनसे मिला था और उसने कहा था कि इस गैर कानूनी जन सुनवाई को रोकें। 16 जनवरी को सुबह 11:40 पर जब लोग जनसुनवाई के लिए पहुँचे तो गेट बन्द कर दिये गये। पर लोग किसी तरह अन्दर पहुँचे और अन्दर खाली मंच के आसपास लोगों ने कब्जा कर लिया। 11:00 बजे से जन-सुनवाई शुरू होने के समय पर सब की कोशिश थी कि यह जन-सुनवाई न हो। सब ने सफलतापूर्वक न किसी माइक को चलने दिया, ना कोई कैमरा ऑन होने दिया। बीच में कई बार उप-जिलाधिकारी व अपर जिला-अधिकारी ने आकर मंच पर जाने की कोशिश की मगर पुलिस के घेरे में होने के बावजूद खासकर बुजुर्ग महिलाओं के नेतृत्व में चल रहे इस आन्दोलन ने उनको वापस जाने पर मजबूर किया। 1:00 बजे दोपहर में कैमरे आदि वापस करा दिये गये। उसके बाद 1:40 पर अपर जिला-अधिकारी ने दोबारा आकर मंच पर जाने की कोशिश की। लोगों ने कहा कि आप हमें लिखकर दीजिए कि जन-सुनवाई रद्द हुई। उनका कहना था कि नहीं मैं मंच पर जाकर एनाउंस करता हूँ। इस बीच कैमरा फिर चालू हो गया। सरकारी नियत भांपकर लोगों ने कैमरे को बन्द कराया। कम्पनी और पुलिस ने लोगों के साथ जोर जबरदस्ती की मगर अन्त में लोगों का दृढ़ संकल्प देखकर उनको वापस जाना पड़ा। कम्पनी को अपना सामान समेटना पड़ा। 90 वर्ष तक के बुजुर्ग अपने बच्चों के भविष्य की चिन्ता लेकर पहुँचे थे।

और अन्ततः 10:40 बजे से 14.30 तक लोगों ने जन-सुनवाई रद्द करो, परियोजना बन्द करो, दिल्ली को प्रदूषण से बचाना है, आदि नारों से पूरे जन-सुनवाई स्थल को गुंजायमान रखा। बाद में 2 बजे सब ने हस्ताक्षर करके केन्द्रीय पर्यावरण मन्त्रालय, दिल्ली के मुख्य सचिव, प्रदूषण नियन्त्रण समिति व साउथ ईस्ट दिल्ली जिलाधिकारी को पत्र देकर निश्चित

किया कि यह जन-सुनवाई रद्द मानी जानी चाहिए। प्राप्त सूचना के अनुसार जन-सुनवाई रद्द हुई है।

सुखदेव विहार के सभी पॉकेट्स के लोग, जसोला विहार के कई पॉकेट्स और सेक्टर, अबुल फजल, हाजी कालोनी, गम्फार मंजिल, जौहरी फार्म, शाहीन बाग और दिल्ली के अन्य स्थानों से लोग इस गैरकानूनी जनसुनवाई के खिलाफ पहुँचे और आगे भी परियोजना के खिलाफ मुखर रूप से आन्दोलित हैं।

पर्यावरणीय जन-सुनवाई एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण संवैधानिक अधिकार है जहाँ लोग अपनी बात रख पाते हैं, किन्तु देशभर का अनुभव यही बताता है कि सरकार किसी तरह जन-सुनवाई की रस्म पूरी करती है और फिर परियोजना को आगे बढ़ाने के लिए कागजी कार्रवाई करती रहती है। इसलिए जब 16 मेगावाट की परियोजना के बुरे असर को दूर नहीं किया गया है और ना ही इस बारे में कोई गम्भीर पहल नजर आती है, तब प्लान्ट की क्षमता और 24 मेगावाट बढ़ाने के क्या दुष्परिणाम होंगे सहज ही समझा जा सकता है। 16 मेगावाट प्लान्ट के खिलाफ सुप्रीम कोर्ट में केस चल रहा है फिर इसे 40 मेगावाट करने की इतनी जल्दी क्यों? क्या कभी ये आकलन किया गया कि हरित पट्टी होने व इतनी घनी आबादी के बीच इस प्लान्ट को क्यों बनाया गया?

16 मेगावाट के प्लान्ट के खिलाफ राष्ट्रीय हरित प्राधिकरण के फ़ैसले में इस कचरा से बिजली प्लान्ट की हर महीने तीन सदस्यों की समिति द्वारा निगरानी विजिट होनी थी। पर्यावरण मानक सही पाये जाने पर यह विजिट 3 महीने में बदलने का प्रावधान था। आश्चर्य का विषय यह है कि प्रदूषण बढ़ता गया और निगरानी घटती गयी। समिति का दौरा 1 महीने से 3 महीने में बदल गया यह कैसे बदला प्रदूषण नियन्त्रण बोर्ड इस बात को सार्वजनिक नहीं कर रहा है।

लगातार लोगों पर बुरे असर जारी हैं, किन्तु इस पर भी प्रदूषण नियन्त्रण बोर्ड आँख मूंद कर बैठा है। हरित पट्टी विकसित करने के नाम पर हरियाली को जलाने वाला प्लान्ट यहाँ स्थापित किया गया। बिना किसी पर्यावरण स्वीकृति के प्लान्ट का विस्तार कार्य भी शुरू

हो चुका है। अब सवाल यह उठता है कि जब प्रतिवर्ष दिल्ली में हजारों लोग प्रदूषण से मारे जा रहे हैं, दिल्ली के एक तिहाई से ज्यादा बच्चों के फेफड़े खराब हो गये हैं, यह प्रदूषण फैलाने वाली योजना कैसे चलाई जा सकती है?

दिल्ली में प्रति दिन निकलने वाला 10 हजार टन कूड़ा एक बड़ी समस्या बनता जा रहा है। ऐसे में कूड़े से बिजली बनाना काफी विशेषज्ञों को व सरकार को भी एक बहुत अच्छा पर्यावरणीय विकल्प लगता है। मगर सवाल यह है कि इस विकल्प की तकनीक कौन सी होनी चाहिए? देश में इस तरह की 7 परियोजनाएँ बन्द हो चुकी हैं और फिर भी इस परियोजना के लिए जन-सुनवाई का झूठा नाटक करने की आवश्यकता क्यों? न तो कम्पनी ने आज तक नेशनल ग्रीन ट्रिब्यूनल के आदेशों का पालन किया और न अब तक इसके बुरे प्रभावों पर कोई काम किया। चिमनियों से निकलने वाले धुँए से हो रहे नुकसानों का आंकलन तक नहीं हुआ, मगर लोग जरूर उसको झेल रहे हैं। परियोजना से निकलने वाली फ्लाई ऐश का निस्तारण तक नहीं हुआ। एक तरफ दिल्ली में पेड़ों की कमी खलती है, और इधर इस परियोजना से ओखला क्षेत्र के पेड़ मर रहे हैं।

ऐसे तमाम प्रश्न हवा में तैर रहे हैं। केन्द्र व राज्य सरकार इन प्रश्नों का उत्तर दिये बिना दिल्ली के प्रदूषण को रोकने की जद्दोजहद में भी इतने बड़े मुद्दे को कैसे भूल रही हैं? जब पास के राज्यों की पराली जलने से दिल्ली के लोगों पर असर पड़ता है, प्रदूषण में वृद्धि होती है, तो दिल्ली में ही इस प्रदूषण पैदा करने वाली, जमीन के पानी को खराब करने वाली, लोगों के स्वास्थ्य पर बुरा असर डालने वाली परियोजना को चलाते हुए आगे क्यों बढ़ाया जा रहा है?

राजधानी के नागरिकों ने यह तय कर लिया है कि अब सरकार के एक तरफ प्रदूषण नियन्त्रण और पर्यावरण संरक्षण के बड़े-बड़े दावे और दूसरी तरफ कचरा ठिकाने लगाने के उपयोगी तरीके के नाम पर राजधानी के नागरिकों पर जहरीले धुँए व पानी की सौगात नहीं सहेंगे।

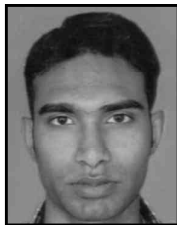
□

जारी हैं भूख से मौतें

झारखण्ड

आकाश रंजन

21वीं शताब्दी में आजादी के 70 वर्षों बाद भी लोकतान्त्रिक प्रणाली से शासित किसी देश में भूख से किसी व्यक्ति की मौत होना शर्मनाक है। वह भी ऐसी मौतें तब हों जब देश में पर्याप्त मात्र में खाद्यान्न का उत्पादन होता हो और इसमें से लाखों टन अनाज रख-रखाव के अभाव और लापरवाही के कारण हर वर्ष सड़ कर बर्बाद हो जाता हो। यह भी एक विडम्बना है कि भारत अभी विश्व की सबसे तेज गति से बढ़ने वाली अर्थव्यवस्था है, जिसके बूते इसके इसी वर्ष विश्व के सबसे बड़ी पाँच अर्थव्यवस्थाओं में से एक हो जाने की प्रबल सम्भावना है।



लेखक भूख एवं शिक्षा के मुद्दों पर कार्यरत स्वतन्त्र सामाजिक कार्यकर्ता हैं।
+919931014008
ranjanakash18@gmail.com



सितम्बर 2017 में झारखण्ड के सिमडेगा जिले में भात माँगते हुए हुई 11 वर्षीय सन्तोषी की मौत सुर्खियों में आने के बाद भी राज्य में भूख से मौत का सिलसिला थमा नहीं है। इसके बाद के 16 महीनों में राज्य में लगभग 20 लोग भूख के कारण मौत के शिकार हुए हैं। यह और बात है कि राज्य सरकार ने बगैर उचित जाँच के ऐसी मौत होते ही, मृतक के परिवार को तुरत बेहद मामूली नकद राशि और कुछ किलो अनाज देकर, आनन-फानन में हर ऐसे मामले को बीमारी से हुई मौत करार देकर रफा-दफा करने की कोशिश की है। पर मामले को छिपाने की यह सरकार की कोशिश मौके पर जाकर की गयी स्वतन्त्र जाँच में टिकती नहीं। इन सब मामलों में सरकार द्वारा सामाजिक सुरक्षा योजनाओं, जन वितरण प्रणाली व्यवस्था तथा मनरेगा में भारी अनियमितताएँ एवं पात्रता रखने वाले गरीब परिवारों को खाद्य सुरक्षा प्रदान करने में असफलता स्पष्ट दिखाई देती है। झारखण्ड में जन-वितरण प्रणाली एवं सामाजिक सुरक्षा योजनाओं के भुगतान को लगभग 2 वर्ष पूर्व आधार से जोड़ने के बाद परेशानी काफी

बढ़ गयी है। पहले तो राज्य सरकार ने आधार न होने के नाम पर लाखों ऐसे परिवारों के राशन कार्ड रद्द कर दिये, जो बेहद गरीब थे, राशन कार्ड मिलने की सभी शर्तें पूरी करते थे और जिनका जीवन जन वितरण प्रणाली से मिलने वाले अनाज पर टिका हुआ था। इसके बाद राशन लेने के लिए बायोमेट्रिक सत्यापन व्यवस्था की परेशानियों से राशन कार्ड के बावजूद काफी परिवार राशन लेने से वंचित होने लगे। यह स्थिति राज्य में अब भी जारी है जबकि सुप्रीम कोर्ट एवं केन्द्र सरकार ने स्पष्ट निर्देश दे रखे हैं कि आधार सम्बन्धी समस्याओं के कारण किसी भी परिवार को राशन से वंचित नहीं किया जा सकता।

भूख से हुई मौत के शिकार व्यक्तियों के परिवारों पर एक नजर डाली जाए, तो इनमें से ज्यादातर परिवार अत्यन्त गरीब, आदिवासी, दलित या पिछड़ी जातियों के हैं। पात्रता होने के बावजूद इन्हें किसी भी तरह की सामाजिक सुरक्षा की सरकारी योजना का लाभ नहीं मिलता रहा है। बेहद गरीब परिवारों के लिए अटल बिहारी वाजपेयी सरकार के दौरान 2003

में शुरु की गयी 'अन्त्योदय अन्न योजना' से झारखण्ड में जरूरतमन्द परिवार लाभान्वित नहीं हो रहे हैं और न ही आदिम जन-जाति परिवारों के लिए राज्य सरकार द्वारा शुरु की गयी 'डाकिया योजना' के अन्तर्गत ऐसे परिवारों के घर तक अनाज पहुँच पा रहा है, जिसकी तस्दीक रामगढ़ जिले में भूख से हुई चितामन मल्हार एवं राजेन्द्र बिरहोर की मौतें करती हैं। राज्य सरकार द्वारा ही हर पंचायत में दस हजार रुपए के 'खाद्यान्न कोष' की योजना, जिसका उद्देश्य भूख के मामले सामने आने पर वैसे परिवारों को अनाज मुहैया कराना है, भी कहीं धरातल पर दिखाई नहीं देती। झारखण्ड के खाद्य मन्त्री सरयू राय यह घोषणा तो करते हैं कि आधार से लिंक न होने पर या राशन कार्ड के बगैर भी जरूरतमन्द परिवारों को राशन उपलब्ध कराया जाएगा, पर ऐसे मामले सामने आने पर जिसमें राशन नहीं मिलने के कारण मौत हुई, पर चुप रहते हैं एवं सरकार इसकी जिम्मेवारी तय करने के लिए कुछ करती नहीं दिखती। इसी वजह से प्रशासनिक अमला राशन वितरण की गड़बड़ियों और भूख से मौत के मामलों को रोकने के प्रति गम्भीर होने की बजाय इसकी लीपा-पोती में लगा रहता है। खाद्य मन्त्री द्वारा ऐसी मौतों, जो भूख से हुई मौत मानी जा रही हों, में शव का अन्त्यपरीक्षण कराने की घोषणा करने के बावजूद यह प्रक्रिया अपनायी नहीं जाती और प्रशासनिक अमला मृतक का दाह संस्कार यथाशीघ्र करवा देने में लग जाता है। इसके लिए छोटी-मोटी धनराशि देते समय मृतक के परिजनों से यह लिखवाने में भी तत्परता दिखाई जाती है कि मौत बीमारी या किसी अन्य कारण से हुई है, यद्यपि इसकी मेडिकल जाँच से कभी पुष्टि नहीं होती। स्थिति इतनी खराब और शासन-प्रशासन इतना लापरवाह है कि विशेष रूप से संवेदनशील आदिवासी समूह के रूप में चिन्हित पहाड़िया आदिम जनजाति को न तो अन्त्योदय अन्न योजना कार्ड मिला है और न ही पेंशन के प्रतिमाह मिलने वाले 6 सौ रुपए, सरकारी नीति के अनुसार, जिनके वे अधिकारी हैं। पहाड़िया समुदाय के बीच लातेहार-पलामू क्षेत्र के सुदूर गाँवों में किए गये एक सर्वेक्षण से ये तथ्य उजागर हुए हैं। बिरहोर भी झारखण्ड में विशेष रूप से संवेदनशील आदिवासी समूह के रूप में चिन्हित किए गये हैं, लेकिन इस समुदाय के कई

परिवारों तक भी घोषित सहायता नहीं पहुँच रही है। हाल की इस समुदाय से जुड़ी कई घटनाओं से यह स्पष्ट है। किसी बस्ती में भूख से मौत होने के बाद भी सरकार यह प्रयास करती नहीं दिखती कि मृतक के परिजनों एवं बस्ती में पात्रता के अनुसार राशन व सामाजिक सुरक्षा की योजनाओं का लाभ पहुँचना सुनिश्चित हो।

हाल ही में लोकसभा में भूख से मौत पर उठे एक सवाल पर सरकार की तरफ से जवाब दिया गया कि पूरे देश में भूख से मौत का कोई मामला सरकार के संज्ञान में नहीं आया है। झारखण्ड सरकार ने राज्य में इस तरह की घटनाएँ होने के बावजूद केन्द्र को सूचित किया कि झारखण्ड में भूख से कोई मौत नहीं हुई

4 वर्षों में भारत इस सूची में लगातार नीचे खिसकते हुए 2014 के 55वें स्थान से, 2018 में जारी 119 देशों की सूची में 103 वें स्थान पर पहुँच गया है, जो इस बात को दर्शाता है कि सूची में शामिल देशों से तुलनात्मक रूप में भारत भूख से निपटने के मामले में लगातार पिछड़ता जा रहा है। इससे इस बात की भी पुष्टि होती है कि देश में भूख और इससे होने वाली मौतें एक सच्चाई है, जिसे सरकार द्वारा नकारने से छिपाया नहीं जा सकता।

21 वीं शताब्दी में आजादी के 70 वर्षों बाद भी लोकतान्त्रिक प्रणाली से शासित किसी देश में भूख से किसी व्यक्ति की मौत होना शर्मनाक है। वह भी ऐसी मौतें तब हों जब देश

हाल ही में लोकसभा में भूख से मौत पर उठे एक सवाल पर सरकार की तरफ से जवाब दिया गया कि पूरे देश में भूख से मौत का कोई मामला सरकार के संज्ञान में नहीं आया है। झारखण्ड सरकार ने राज्य में इस तरह की घटनाएँ होने के बावजूद केन्द्र को सूचित किया कि झारखण्ड में भूख से कोई मौत नहीं हुई है। इससे सरकार की असंवेदनशीलता जाहिर होती है। सरकार द्वारा भूख से हुई मौतों को भी राजनीतिक नफे-नुकसान की नजर से देखना और इसे स्वीकार न करने का दृष्टिकोण हैरान करने वाला है क्योंकि राज्य की हमारी अवधारणा लोक कल्याण आधारित है, जिसमें ऐसे मुद्दों पर सरकार का मानवीय रुख और तदनुरूप कार्यवाही अपेक्षित होती है।

है। इससे सरकार की असंवेदनशीलता जाहिर होती है। सरकार द्वारा भूख से हुई मौतों को भी राजनीतिक नफे-नुकसान की नजर से देखना और इसे स्वीकार न करने का दृष्टिकोण हैरान करने वाला है क्योंकि राज्य की हमारी अवधारणा लोक कल्याण आधारित है, जिसमें ऐसे मुद्दों पर सरकार का मानवीय रुख और तदनुरूप कार्यवाही अपेक्षित होती है। राज्य में लाखों गरीब परिवारों को राशन कार्ड न देकर एवं आधार सम्बन्धी गड़बड़ियों के कारण राशन से वंचित रखकर सरकार भूख से और मौतों को न्यौता दे रही है। मृतकों के परिवारों को राशन या पेंशन या अन्य सरकारी योजनाओं का लाभ क्यों नहीं मिला इस पर सरकार की चुप्पी सरकार की असफलता को बयान कर देने के लिए पर्याप्त है।

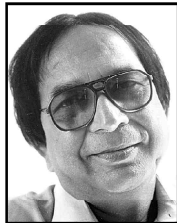
हाल ही में जारी हुए वैश्विक भूख सूचकांक से यह स्पष्ट हो जाता है कि पिछले

में पर्याप्त मात्र में खाद्यान्न का उत्पादन होता हो और इसमें से लाखों टन अनाज रख-रखाव के अभाव और लापरवाही के कारण हर वर्ष सड़ कर बर्बाद हो जाता हो। यह भी एक विडम्बना है कि भारत अभी विश्व की सबसे तेज गति से बढ़ने वाली अर्थव्यवस्था है, जिसके बूते इसके इसी वर्ष विश्व के सबसे बड़ी पाँच अर्थव्यवस्थाओं में से एक हो जाने की प्रबल सम्भावना है। यही नहीं हम अब एक न्यूक्लियर पावर स्टेट हैं, हमने सफलता पूर्वक चन्द्रमा और मंगल पर यान भेजने का अभियान पूरा किया है और अब अन्तरिक्ष में अगले 2-3 वर्षों में अपने यान में मानव भेजने की हमारी योजना है। इसके बावजूद हम विज्ञान का इस्तेमाल भूख को खत्म करने में, इससे जुड़ी योजनाओं से अनियमितताएँ दूर करने में क्यों नहीं कर पाये, यह प्रश्न गम्भीर है और विचारणीय भी। □

2019 के चुनाव में उत्तर प्रदेश का महत्त्व

रविभूषण

नरेन्द्र मोदी का जादू फिलहाल पहले की तरह नहीं है। उनमें मतदाताओं को रिझाने, लुभाने, अपने पक्ष में करने की क्षमता भारत के किसी भी नेता से कहीं अधिक है। उनकी नम्रता का अपना असर है, पर जनता भाषा, लुभावने नारों, झूठे आश्वासनों पर नये जुमलों-मुहावरों से सदैव प्रभावित नहीं हो सकती। उसके सामने पूरा सच प्रस्तुत नहीं किया जाता, मीडिया अपने दायित्व से दूर हो चुका है और गोदी मीडिया ने मोदी और भाजपा के पक्ष में ही माहौल बनाया है। सच्ची सूचनाओं और घटनाओं को सामने न लाकर अपनी विश्वसनीयता खो दी है।



लेखक जन संस्कृति मंच के राष्ट्रीय कार्यकारी अध्यक्ष हैं।
+919431103960
ravibhushan1408@gmail.com



आगामी लोकसभा चुनाव (2019) के पहले किसी भी चुनाव में उत्तर प्रदेश की ऐसी अहमियत नहीं थी, सीटें तब भी 80 थी और ये कई राजनीतिक दलों में-विशेषतः काँग्रेस, भाजपा, सपा, और बसपा में विभाजित हुई करती थी। पिछले लोकसभा चुनाव (2014) के नतीजे ने सब कुछ बदल दिया, जब भाजपा को 80 में से 71 सीट प्राप्त हुई थी और उसका वोट प्रतिशत 42.30 था। उसने और सपा ने 78 सीटों पर चुनाव लड़ा था, पर सपा को मात्र 5 सीट प्राप्त हुई थी और ये सभी सीटें मुलायम यादव के परिवार को मिली। सपा का वोट प्रतिशत 22.20 था। बसपा ने सभी 80 सीटों पर अपने उम्मीदवार खड़े किए थे पर उसे एक भी सीट नहीं मिली, उसका वोट प्रतिशत 19.60 था। सपा-बसपा दोनों के वोट प्रतिशत से भाजपा का वोट प्रतिशत अधिक था। काँग्रेस ने 66 सीटों पर अपने प्रत्याशी खड़े किए थे पर जीते केवल दो-सोनिया गाँधी और राहुल गाँधी, काँग्रेस का वोट प्रतिशत 7.50 था। सपा-बसपा और काँग्रेस का काल और वोट प्रतिशत भाजपा

के वोट प्रतिशत से अधिक था। अपना दल ने दो प्रत्याशी खड़े किए थे और वे दोनों जीते। अपना दल का वोट प्रतिशत एक था। भाजपा के साथ यह वोट प्रतिशत जुड़कर भी सपा-बसपा-काँग्रेस के वोट प्रतिशत से कम था। इस 16वें लोकसभा चुनाव में 15वें लोकसभा चुनाव की तुलना में भाजपा का 24.80 प्रतिशत बढ़ा था और सपा-बसपा-काँग्रेस का घटा था। क्रमशः 1.6, 7.82 और 10.75। इस चुनाव नतीजे ने एक साथ भाजपा और बसपा को चौंकाया था। भाजपा को कभी 71 सीट की उम्मीद नहीं थी और बसपा कभी यह सोच भी नहीं सकता था कि वह शून्य पर सिमट जाएगी। उस समय अगर सपा-बसपा और काँग्रेस ने मिलकर भाजपा के खिलाफ संयुक्त उम्मीदवार खड़ा किया होता तो भाजपा मात्र 30 सीटों पर जीत सकती थी और उसे संसद में बहुमत प्राप्त नहीं होता। उस समय मोदी की लहर थी और उनकी उछाल को राजनीति दल समझ नहीं रहे थे। 2014 में अजीत सिंह के नेतृत्व वाला रालोद (राष्ट्रीय लोकदल) काँग्रेस के साथ था, पर जाट वोट

भाजपा के पक्ष में गये। 77% जाट मतदाताओं ने भाजपा गठबन्धन को मत दिया था और मात्र 13% ने काँग्रेस और रालोद को। उस चुनाव में भाजपा को यादवों के भी 27% मत मिले थे और अपना दल जो कुर्मी जाति का दल है, की 53% वोट अपना दल और भाजपा गठबन्धन को प्राप्त हुए थे। दलित वोट भी भाजपा की ओर झुके और 45% दलित वोट भाजपा ने प्राप्त किए थे। मायावती को मात्र 30% दलित वोट मिले थे। दलितों ने काँग्रेस से किनारा कर लिया था। भाजपा ने एक भी मुसलमान प्रत्याशी खड़ा नहीं किया था पर 10% मुसलमानों ने भाजपा को वोट दिया था जो पहले की तुलना में 7% अधिक था।

15वें लोकसभा चुनाव के नतीजे 16वें लोकसभा चुनाव के नतीजे से बिल्कुल भिन्न थे। 2009 में भाजपा को मात्र 116 सीट मिली थी जो 2014 में दोगुनी से अधिक 282 हो गयी। काँग्रेस को 2009 में 206 सीट मिली थी जो अप्रत्याशित रूप से घटकर 44 हो गयी। ऐसी दशा काँग्रेस की 1977 में भी नहीं हुई थी, उस छठी लोकसभा में उसके 154 सांसद थे। नरेन्द्र मोदी ने 2014 में सरा चुनावी अंकगणित बदल दिया था और उन्हें भी यह उम्मीद नहीं उम्मीद नहीं थी कि भाजपा बहुमत में आएगी और उसे 282 सीट मिलेगी। इसमें हिन्दी प्रदेश की सबसे बड़ी भूमिका थी और उसमें भी उत्तर प्रदेश की। 2017 के उत्तर प्रदेश विधानसभा उत्तर प्रदेश विधानसभा चुनाव का परिणाम भी सपा-बसपा के लिए अप्रत्याशित था जब भाजपा को 312, बसपा को 12, सपा को 47 सीट मिली थी। इसके पहले उत्तर प्रदेश में सपा की सरकार थी। दृश्य बदला, उत्तर प्रदेश में लोकसभा उपचुनाव के बाद जब सपा-बसपा साथ हुए और भाजपा ने गोरखपुर, फूलपुर और कैराना की लोकसभा लोकसभा सीटें गँवाईं। इसके बाद सपा-बसपा ने यह अनुमान लगाया कि उत्तर प्रदेश में मतदाता भाजपा के खिलाफ है। इसी प्रकार काँग्रेस ने ने गुजरात और कर्नाटक विधानसभा चुनाव के नतीजों के बाद यह अनुमान किया कि अब मोदी की लहर घट रही है। मध्य प्रदेश, छत्तीसगढ़ और राजस्थान के चुनाव परिणामों से काँग्रेस का प्रसन्न और उत्साहित होना स्वाभाविक था। अभी भी काँग्रेस, सपा

और बसपा यह समझ नहीं पा रही है कि मोदी लहर जितनी मोदी लहर जितनी हिन्दी प्रदेश में चली उतनी अन्यत्र नहीं। अहिन्दी प्रदेश से 2014 के लोकसभा चुनाव में भाजपा को मात्र 92 सीटें प्राप्त हुई थी। हिन्दी प्रदेश में मुख्य क्षेत्रीय दल सपा-बसपा, रालोद, झामुमो, झाविमो, जदयू, आजसू, लोजपा, राजद, रालोसपा, रालोद और हरियाणा विकास पार्टी है। जिसमें उत्तर प्रदेश में सपा-बसपा सर्वाधिक प्रमुख हैं। दूसरे प्रदेशों में इन दो दलों की पहुँच अभी सीमित है, जबकि बसपा राष्ट्रीय दल है।

नरेन्द्र मोदी का जादू फिलहाल पहले की तरह नहीं है। उनमें मतदाताओं को रझाने, लुभाने, अपने पक्ष में करने की क्षमता भारत के किसी भी नेता से कहीं अधिक है। उनकी नम्रता का अपना असर है, पर जनता भाषा, लुभावने नारों, झूठे आश्वासनों पर नये जुमलों-मुहावरों से सदैव प्रभावित नहीं हो सकती। उसके सामने पूरा सच प्रस्तुत नहीं किया जाता, मीडिया अपने दायित्व से दूर हो चुका है और गोदी मीडिया ने मोदी और भाजपा के पक्ष में ही माहौल बनाया है। सच्ची सूचनाओं और घटनाओं से को सामने न लाकर अपनी विश्वसनीयता खो दी है दी है। ऐसे समय में राजनीतिक दलों की एकजुटता का सवाल प्रमुख हो उठता है। जिस प्रकार 1977 में इंदिरा गाँधी को हटाने और 1989 में राजीव गाँधी को हटाने में विपक्ष एकजुट हुआ था, वैसी एकजुटता विपक्षी दलों में नरेन्द्र मोदी को हटाने और भाजपा को पराजित करने में नहीं दिखाई देती। इस एकजुटता के लिए नेतृत्व की आवश्यकता है जो जयप्रकाश नारायण और दूसरे रूप में ही सही विश्वनाथ प्रताप सिंह में थी। उस समय राजनीतिक दल एक व्यक्ति विशेष का नेतृत्व स्वीकार किया करते थे, पर 21वीं सदी के दूसरे दशक का भारत उस समय से भिन्न है है। सभी विपक्षी दलों को किसी एक का नेतृत्व स्वीकार नहीं है-न राहुल गाँधी का, न ममता बनर्जी का और न मायावती का। नेतृत्व विहीन गठबन्धन भी सम्भव है, बशर्ते सब का उद्देश्य समान हो। समान उद्देश्य या लक्ष्य-प्राप्ति के लिए ही विपक्षी दल एकजुट हो सकते हैं, जिसमें अहम भूमिका हिन्दी प्रदेश के क्षेत्रीय दलों दलों की

है। जहाँ तक काँग्रेस के साथ का प्रश्न है, केवल एक दल राजद राजद और एक नेता लालू यादव उसके साथ रहा है। लालू ने कभी काँग्रेस का साथ नहीं छोड़ा और उन पर जितने आरोप लगे, उनके साम्प्रदायिकता विरोध को उनके विरोधी भी स्वीकारेंगे। राजद बिहार में ही प्रभावशाली है और झारखण्ड जैसे राज्य में भी उसकी सबल अनुपस्थिति नहीं है। बिहार में लोकसभा की मात्र 40 सीट है, जिससे अधिक सीट महाराष्ट्र (48) और पश्चिम बंगाल (42) में है। लोकसभा की सर्वाधिक उत्तर प्रदेश (80) में है, इसलिए 2019 के चुनाव में सबकी आँखें उत्तर प्रदेश पर टिकी है और टिकी रहेंगी।

उत्तर प्रदेश में राजनीतिक दलों की संख्या कम नहीं है, पर इन दलों में सर्वाधिक प्रमुख सपा और बसपा ही है। 2017 के विधानसभा चुनाव में 8 दलों ने जीत हासिल की। सपा-बसपा के बाद अपना दल (सोनेलाल) है, जिसके 9 विधायक हैं, काँग्रेस से 2 अधिक। काँग्रेस की विधायक संख्या मात्र 7 है। सुहेलदेव भारतीय समाज पार्टी के 4 विधायक हैं और राष्ट्रीय लोक दल का मात्र 1 विधायक है। निर्बल इंडियन शोषित समाज हमारा आम दल का भी केवल 1 विधायक है। इन क्षेत्रीय दलों में से अपना दल और सुहेलदेव भारतीय समाज पार्टी भाजपा के साथ है, राजग में है। इस दल के नेता ओम प्रकाश राजभर उत्तर प्रदेश की सरकार में कैबिनेट मन्त्री हैं और अपना दल की अनुप्रिया पटेल केन्द्र में राज्य मन्त्री हैं। जिनका पहले की तरह अभी भाजपा से मधुर सम्बन्ध नहीं है, पर यह सम्बन्ध अभी तक इतना तिक्त भी नहीं भी नहीं हुआ है कि ये दोनों भाजपा का साथ छोड़ दे। अब राजभर भाजपा को अखिलेश सरकार से भी अधिक भ्रष्ट मान रहे हैं। इसी प्रकार अनुप्रिया पटेल का भी भाजपा के प्रति रुख है। राजभर पहले बसपा में थे, जिससे निकल कर उन्होंने अपनी एक नयी पार्टी बनायी। इसी प्रकार निषाद पार्टी (निर्बल इंडियन शोषित हमारा आम दल) के संस्थापक डॉ. संजय कुमार निषाद पहले बसपा में थे। काशीराम के निकटवर्ती सोनेलाल पहले बसपा के संस्थापकों में थे, जिन्होंने बसपा छोड़कर अपना दल 1995 में बनाया और संजय निषाद ने अपनी

पार्टी 2013 में बनायी। अखिलेश यादव निषाद पार्टी को सपा का छोटा भाई कहते हैं। उन्होंने 2018 के गोरखपुर लोकसभा के उपचुनाव में संजय निषाद के पुत्र प्रवीण कुमार निषाद को सपा प्रत्याशी के रूप में खड़ा किया था, जहाँ आबादी के लिहाज से यह समुदाय दूसरे नंबर पर है और इसकी लोकसभा उपचुनाव में जीत हुई थी। संजय निषाद ने भाजपा को भारत जलाओ पार्टी कहा है और उनकी पार्टी आगामी लोकसभा चुनाव में सपा के साथ रहेगी। जहाँ तक अपना दल और सोहेलदेव भारतीय समाज पार्टी और उनके नेताओं का प्रश्न है, फिलहाल अनुप्रिया पटेल और ओमप्रकाश राजभर का भाजपा से सम्बन्ध विच्छेद दिखाई नहीं देता। इसी प्रकार बसपा से टूट कर निकले दलों की बसपा में वापसी के चिन्ह बहुत कम हैं। उत्तर प्रदेश में सपा-बसपा और रालोद एक साथ हैं और इन तीनों में सीट संख्या को लेकर सहमति बन चुकी है। एक अड़चन प्रत्याशी को संसदीय क्षेत्र में खड़ा करने में है, जिसमें सपा-बसपा में कुछ क्षेत्रों को लेकर सहमति बन सकती है पर उसके दूर हो जाने की पूरी सम्भावना है।

गठबन्धन में शामिल दल एक दूसरे पर सीट-संख्या को लेकर दबाव बनाते हैं। अब दबाव कि यह राजनीति पहले से कुछ अधिक है। उत्तर प्रदेश में सपा-बसपा ने सामान सीट पर एक दूसरे को देकर इसे हल कर लिया है। प्रियंका गाँधी के काँग्रेस के महासचिव बनने और पूर्वी उत्तर प्रदेश के प्रभारी बनने के बाद एक क्षीण सम्भावना सपा-बसपा और काँग्रेस के आपसी तालमेल की है। ऐसा होने पर भाजपा की उत्तर प्रदेश में बहुत बुरी हालत होगी और पूरा माहौल भाजपा विरोधी बन जाएगा। यह काँग्रेस पर नहीं, मायावती और अखिलेश पर निर्भर करता है कि बदले माहौल में भी काँग्रेस के साथ समझौता करते हैं या नहीं? गठबन्धन में काँग्रेस को शामिल करने के बाद मायावती और अखिलेश को बसपा-सपा की सीट कम करनी होगी और काँग्रेस को अधिक देनी होगी। 10 सीट से कम पर काँग्रेस शायद ही सहमत हो वह 15 सीट की भी मांग कर सकती हैं। ज्योतिरादित्य सिन्धिया को भी प्रियंका के साथ काँग्रेस का महासचिव

बनाकर पश्चिमी उत्तर प्रदेश, जो जाट बहुल है, का प्रभारी बना दिया गया है। उत्तर प्रदेश में विशेषतः सपा-बसपा को यह सोचना होगा कि वह बड़ा गठबन्धन बनाये बिना भाजपा को उत्तरप्रदेश से कम सीटों पर लाकर नहीं खड़ा कर सकती। उत्तर प्रदेश की भूमिका 1989 के चुनाव के बाद अर्थात् मन्दिर राजनीति के बाद अधिक प्रमुख हो गयी। हमें हमेशा याद रखना चाहिए कि 1984 के चुनाव में भाजपा को जो 2 सीटें प्राप्त हुई थी, उसमें से एक भी सीट केवल उत्तर प्रदेश से ही नहीं, किसी भी हिन्दी प्रदेश की नहीं थी। भाजपा के यह दो सांसद गुजरात के मेहसाना से ए. के. पटेल और आन्ध्र प्रदेश के हनम फोंडा से चन्दुपतला जंगा रेड्डी थे। 2014 लोकसभा चुनाव के पहले किसी भी लोकसभा चुनाव में भाजपा को उत्तर प्रदेश से चालीस-पचास सीट भी नहीं मिली थी। अब पिछले चुनाव (2104) की 71 सीटों से सपा-बसपा भाजपा को अधिकतम कितनी सीटों पर सिमटा देने की रणनीति बनाती है? वह काँग्रेस के साथ समझौता करेगी या उससे अलग-थलग कर त्रिकोणीय संघर्ष कायम करेगी। त्रिकोणीय संघर्ष में निश्चित रूप से कुछ भी कहा नहीं जा सकता। केवल सम्भावना ही प्रकट की जा सकती है। उत्तर प्रदेश में त्रिकोणीय संघर्ष बुरा होगा। 80 सीटों पर सीधा साझा संघर्ष से ही भाजपा को केवल चुनौती ही नहीं दी जा सकती, उसकी सीट संख्या काफी घटाई जा सकती है। 80 सीटों पर भाजपा प्रत्याशी के खिलाफ विपक्ष का अगर केवल एक प्रत्याशी खड़ा होगा तो भाजपा की हार सुनिश्चित है और इसकी प्रबल सम्भावना है कि वह उत्तर प्रदेश में 20 सीटों तक भी सिमट सकती है। राम जन्म-भूमि के कारण ही उत्तर प्रदेश में भाजपा को ऐसी जीत हासिल हुई। बाद में उ.प्र.ए के समय भ्रष्टाचार और उस सरकार की नाकामियों के कारण, भ्रष्टाचार का आरोप भाजपा और मोदी पर उतना भले ना लगा हो पर हो, पर राफेल की गर्जना कम होती दिखाई नहीं पड़ती और राहुल गाँधी ने बार-बार कहा है कि यह सरकार कॉर्पोरेटों की सरकार है और मोदी ने अपने कॉर्पोरेट मित्र को लाभ पहुँचाया है। गठबन्धन का एक

आधार कॉर्पोरेट विरोध भी है। राज्य और कॉर्पोरेट भी है राज्य और कॉर्पोरेट की अटूट मैत्री का मुख्य मुद्दा बनने की कम सम्भावना है और इसकी भी अधिक सम्भावना नहीं है कि देश में 'मोनोलिथिक नैरेटिव' (एक धारा वाली विचारधारा) के खिलाफ कोई दल या गठबन्धन-महागठबन्धन कोई माहौल पैदा करे। मोदी और भाजपा को हराने के लिए, ये जिस हिन्दुत्व विचारधारा से चालित हैं, उस पर कोई बात नहीं की गयी है। शायद वह चुनाव के लिए, वोट-प्राप्ति के लिए विपक्षी दलों को संगत नहीं लगता हो। उत्तर प्रदेश हिंदुत्व का गढ़ है। राम मन्दिर के आन्दोलन में वही प्रमुख था और योगी आदित्यनाथ जितना अधिक हिन्दू राष्ट्र के पक्षधर हैं वैसी पक्षधरता समाजवाद के प्रति न तो अखिलेश में है और न दलित के प्रति मायावती में। राहुल गाँधी में पिछले एकाध वर्ष में पहले की तुलना में अधिक राजनीतिक परिपक्वता आयी है। उन्होंने काँग्रेस को वेंटिलेटर और आईसीयू से निकालकर न केवल सशयवस्था से निकाल दिया है, अपितु अब वह तेज चाल चलने की कोशिश में है, चल भी रही है। अभी राहुल की न तो किसी क्षेत्रीय नेता से (एकाध को छोड़कर) सीधी टक्कर है और न काँग्रेस किसी क्षेत्रीय दल के खिलाफ है। राहुल ने भाजपा के खिलाफ सपा-बसपा की लड़ाई की लड़ाई को सहयोग देने की बात कही है, यह कैसे सम्भव होगा? बिना सीटों के तालमेल से यह सम्भव नहीं है। उत्तर प्रदेश में सपा-बसपा और काँग्रेस को एकजुट होकर भाजपा के खिलाफ लड़ना होगा। मतदाताओं के पहले मुख्यतः इन तीन दलों पर यह निर्भर करता है कि वे एकजुट होते हैं या नहीं? सपा-बसपा मिलकर भी मोदी को चुनौती दे सकेंगे पर काँग्रेस के जुड़ जाने पर यह चुनौती प्रमुख होगी और भाजपा की उत्तर प्रदेश में सीट 40-50 घट सकती है। इस स्थिति में 2019 का चुनाव राजनीतिक परिदृश्य बदल देगा और इसमें मुख्य भूमिका उत्तर प्रदेश की होगी। उत्तर प्रदेश में भाजपा विरोधी राजनीतिक दल और वहाँ के मतदाताओं पर इस समय बहुत कुछ निर्भर करता है कि यह देश किस मार्ग पर ले जाया जाएगा। □

समुद्र-मन्थन : भारत का पहला श्रमिक विद्रोह

ध्रुव गुप्त

ऐसा नहीं है कि हमारे देश में इतिहास लेखन की परम्परा नहीं रही है। हुआ यह है कि घटनाओं को चमत्कारिक रूप देने, अपने आश्रयदाता राजाओं और सामन्तों को अतिमानव सिद्ध करने और शत्रुओं को निकृष्ट तथा अमानवीय दिखाने की कोशिश में इतिहास को तोड़ मरोड़कर ऐसे प्रस्तुत किया गया कि तर्क और विवेक की कसौटी पर वह कपोल कल्पना से ज्यादा कुछ नहीं लगता। हमारे पुराण इतिहास ही हैं। बस उन्हें तार्किक, समाजशास्त्रीय और वैज्ञानिक दृष्टिकोण से पढ़ने की जरूरत है।



लेखक भारतीय पुलिस सेवा के पूर्व अधिकारी तथा कवि एवं कथाकार हैं।
+919934990254
dhruva.n.gupta@gmail.com



पुराणों में प्रमुखता से वर्णित समुद्र-मन्थन या अमृत-मन्थन प्राचीन इतिहास की एक बेहद महत्वपूर्ण घटना है जिसे इसी दृष्टिकोण से पढ़ा और समझा जाना चाहिए। पुराणों में इसे एक अलौकिक घटना के तौर पर वर्णित किया गया है। एक ऐसी घटना जिसने देवताओं को अमरत्व प्रदान कर असुरों पर हमेशा के लिए उनकी श्रेष्ठता स्थापित कर दी। इस घटना को आसुरी शक्तियों पर अच्छाई के विजय के तौर पर भी देखा जाता रहा है। समुद्र मन्थन के पूरे घटनाक्रम को तर्क की दृष्टि से देखें तो यह उस युग के सामन्तों और सम्पन्न व्यवसायी वर्ग द्वारा सीधे-सादे मेहनतकश लोगों के शोषण और उससे उपजे विद्रोह का आख्यान है।

आर्य अपनी आजीविका के लिए कृषि और व्यापार पर निर्भर थे। कृषि को उन्होंने यज्ञ का नाम दिया था जिसके विस्तार के साथ वनों की कटाई की आवश्यकता महसूस हुई। पूर्वी और दक्षिणी भारत में अपने विस्तार के क्रम में उनका उन क्षेत्रों के मूल निवासियों-असुर, नाग, दैत्य, दानव जैसी जाति के लोगों के प्रतिरोध का सामना करना पड़ा। ये मेहनतकश जनजातियाँ अपने भोजन और आजीविका के

लिए पूरी तरह वनों पर आश्रित थीं और इसीलिए उन्हें कृषि या यज्ञ के नाम पर वनों की कटाई से आपत्ति थी। फलतः आर्यों द्वारा कृषि के विस्तार के क्रम में उनका वनों में रहने वाली जनजातियों से संघर्ष हुआ। हजारों साल तक वर्चस्व के लिए चले इस संघर्ष को पुराणों में देवासुर संग्राम कहा गया है। विलासी और कर्मकांडी देवों की तुलना में पूर्व और दक्षिण भारत के मूलनिवासी ज्यादा परिश्रमी, बलशाली और पराक्रमी हुआ करते थे। देवासुर संग्राम में कई बार असुर राजाओं ने देवों को पराजित कर उनके वैभवशाली स्वर्ग पर अपना आधिपत्य स्थापित किया था। देव उनकी तुलना में ज्यादातर असहाय ही दिखते हैं। पुराणों में असुरों से मार खाकर अपनी सहायता के लिए उन्हें जगह-जगह ब्रह्मा, विष्णु, शिव या देवी दुर्गा के आगे गिड़गिड़ाते देखा जा सकता है।

तत्कालीन आर्य राजाओं और व्यापारियों के समुद्र पार के देशों से व्यापारिक सम्बन्ध थे। भारतीय धर्मग्रन्थ और पुराण व्यापार के सिलसिले में आर्यों की समुद्र-यात्राओं के असंख्य दृष्टान्तों से भरे हुए हैं। समुद्र पार के कुछ देशों में उनके उपनिवेशों की चर्चा भी

आयी है। कृष्ण ने भी अपने राज्य की व्यापारिक समृद्धि के लिए समुद्र तट पर स्थित द्वारका को अपने राज्य की राजधानी बनाया था। आर्यों की समुद्र की व्यापारिक यात्राओं में आर्य व्यापारियों के साथ पूजा-पाठ करने वाले उनके पुरोहित और उस समय के वैज्ञानिक माने जाने वाले ऋषि-मुनि भी शामिल होते थे। ये व्यापारिक यात्राएँ सुरक्षित नहीं थीं। इन यात्राओं में अर्जित सम्पत्ति को समुद्र में समुद्री दस्युओं और जंगलों तथा पहाड़ों में असुर, दानव या दैत्य कहे जाने वाले लोगों द्वारा लूटने की असंख्य घटनाएँ वेदों और पुराणों में दर्ज हैं। ऋग्वेद तो इन दस्युओं को कहे गए अपशब्दों और शापों से भरा पड़ा है। व्यापार के दूर देशों तक फैलाव के साथ इन समुद्र-यात्राओं में सुरक्षा के लिहाज से कुछ अलग तैयारी की आवश्यकता थी।

आरामतलब देवों ने अपनी सहायता के लिए जीवत श्रमिकों और दस्युओं से मुकाबले में सक्षम कुछ प्रखर अनार्य योद्धाओं को शामिल करने की जरूरत महसूस की। असुर तथा नाग जनजातियों में ऐसे लोग बहुतायत से उपलब्ध थे, मगर असुरों और नागों से परम्परागत शत्रुता रखने वाले आर्यों में उनसे ऐसी कोई माँग करने का नैतिक साहस नहीं था। इसकी सम्भावना भी कम थी कि देवों द्वारा बार-बार छली गयीं अनार्य जातियाँ उनका ऐसा कोई प्रस्ताव स्वीकार भी कर लें। अन्ततः उनकी मदद के लिए उनके दो नेताओं—विष्णु और शिव को आगे आना पड़ा। विष्णु ने देवराज इन्द्र को अपना दम्भ छोड़कर सन्धि के लिए असुरों के नेता बलि से बात करने की सलाह दी। देवराज इन्द्र ने बेमन से ही सही, बलि के आगे व्यापारिक सन्धि का प्रस्ताव रखा। शिव की सलाह से बलि ने उनका यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया।

आर्यों और अनार्य जनजातियों के बीच इस दुर्लभ सन्धि के बाद शुरू हुआ समुद्र-मन्थन कहा जाने वाला देवों का अबतक का सबसे बड़ा व्यापारिक अभियान। इस अभियान में देवों और असुरों ने मन्दराचल पर्वत को अपनी मथनी अर्थात् केन्द्र बनाया तथा नाग जाति के प्रचण्ड योद्धा बासुकी को रस्सी यानी पथ-प्रदर्शक। समुद्र में स्थित द्वीपों और समुद्र पार के कई देशों में जाकर उन्होंने अपने देश से लाए गये सामान बेचे और उन देशों से कुछ दुर्लभ वस्तुएँ खरीदीं या लूटीं। लम्बे समय तक चली इस

कठिन यात्रा में उन्हें ढेर सारी सम्पत्ति के अलावा चौदह अनमोल रत्न भी हाथ लगे। पुराणों के अनुसार वे चौदह रत्न थे—कामधेनु गाय। उच्चैःश्रवा घोड़ा, ऐरावत हाथी, कौस्तुभ मणि, कल्पवृक्ष, अप्सरा रम्भा, लक्ष्मी, वारुणी, चन्द्रमा, पारिजात वृक्ष, शंख, अमृतघट, वैध धन्वन्तरि और हलाहल। आर्यों की व्यापारिक यात्राओं में यह पहला अवसर था जब बिना किसी बाधा या लूटपाट के उनका इतना बड़ा अभियान सफल हुआ।

जब देवों और असुरों के बीच रत्नों के बँटवारे का समय आया तो सदा की तरह देवता बेईमानी और छल पर उतर आये। चौदह रत्नों में से सुन्दरी लक्ष्मी और कौस्तुभ मणि का विष्णु ने वरण कर लिया। कामधेनु गाय देवों की प्रशस्ति गाने वाले ऋषि-मुनियों को दे दी गयी। ऐरावत हाथी, कल्पवृक्ष और सुन्दरी रम्भा को देवराज इन्द्र ने रख लिया। उच्चैःश्रवा सूर्य के हिस्से में आया। असुरों, नागों और दैत्यों के हाथ सिर्फ वारुणी लगी। हलाहल विष के कारण संसार पर संकट उपस्थित हो गया था। संसार को विष के घातक प्रभाव से बचाने के लिए देवों और असुरों में समान रूप से लोकप्रिय शिव ने स्वेच्छा से हलाहल का पान कर लिया। विष के प्रभाव से उनका कण्ठ नीला पड़ गया जिसके बाद उन्हें नीलकण्ठ का नया नाम मिला। बँटवारे में अन्याय को लेकर असुरों में भयंकर असन्तोष था। मुसीबत तब शुरू हुई जब अमरत्व प्रदान करने वाले अमृत-घट के साथ आखिरी रत्न वैद्यराज धन्वन्तरि प्रकट हुए। देवों के छल से गुस्साए असुरों ने धन्वन्तरी के हाथों से अमृत-घट छीन लिया। असुरों और देवों के बीच संघर्ष की नौबत आ गयी। विष्णु ने मोहिनी रूप धरकर अमृत के वितरण के लिए देवों और असुरों को अलग-अलग पंक्तियों में बिठाया। अपने रूप से असुरों को भ्रमित कर मोहिनी देवों को अमृत पिलाने लगी। देवताओं की यह चाल असुरों को समझ नहीं आई, लेकिन दैत्य राहु उनका छल समझ गया। अमृत पीने के लिए उसने देवता का रूप धरा और जाकर उनकी पंक्ति में बैठ गया। अपने हिस्से आया अमृत उसने पीना शुरू ही किया था कि विष्णु ने उसे पहचान लिया। अमृत की बूंदें गले के नीचे उतरने के पहले ही विष्णु ने सुदर्शन चक्र से राहु का गला काट दिया। इस तरह अमृत

की एक बूँद भी अनार्यों के हाथ नहीं लगी।

समुद्र मन्थन वस्तुतः शोषण और छल का एक रूपक है जिससे हमें उस युग के सामन्तवाद और पूँजीवाद को देखने-समझने की दृष्टि मिल सकती है। दुर्भाग्य से इस रूपक को देवों द्वारा पालित पुरोहितों और ऋषियों ने कुछ इस एकतरफा और चमत्कारिक तरीके से प्रस्तुत किया कि लोग इसे देवताओं का अलौकिक और न्यायपूर्ण कृत्य मान बैठे। यह भी सम्भव हुआ क्योंकि देश की अनार्य जातियों ने अपना इतिहास स्वयं नहीं लिखा। या शायद उनका लिखा हुआ कालान्तर में नष्ट हुआ अथवा नष्ट कर दिया गया। हमारे पुराणों में देवासुर संग्राम या समुद्र मन्थन का वही विवरण मौजूद है जो पुरोहितों ने अपने राजाओं, व्यापारियों या सामंतों को प्रसन्न करने के लिए लिखा था। घटना के सम्बन्ध में अनार्य जातियों का पक्ष हमें पता नहीं। आज के वैज्ञानिक युग में समुद्र मन्थन की इस एकपक्षीय कथा की पुनर्व्याख्या की आवश्यकता है। यह इसीलिए भी आवश्यक है क्योंकि शोषण और छल का यह सिलसिला तब के राजतन्त्र से लेकर आज के लोकतन्त्र तक कभी रुका ही नहीं है।

समुद्र मन्थन अथवा सम्पत्ति के संग्रह और उसके असमान और अन्यायपूर्ण बँटवारे का सिलसिला आज भी जारी है। फर्क इतना भर है कि आधुनिक भारत में आर्यों या देवों की जगह सत्ताधारियों, सत्ता के दलालों, पूँजीपतियों, कारपोरेट घरानों और अफसरशाहों ने ले ली है। लोक की आड़ में सत्ता के तमाम सूत्र इनके हाथों में हैं। इन एक-दो प्रतिशत से भी कम इन लोगों ने देश की नब्बे प्रतिशत से ज्यादा सम्पत्ति और संसाधनों पर छल-बल से कब्जा किया हुआ है। देश के निर्माण में लगे श्रमिकों, अन्नदाता किसानों, कुशल कारीगरों और यहाँ तक कि बड़े औद्योगिक तथा व्यावसायिक घरानों को जीविका के लिए अपनी बौद्धिक क्षमता बेचने वाले मध्यवर्गीय लोगों की हालत क्या आज भी प्राचीन असुरों, दानवों, दैत्यों और नागों से बेहतर है? उनके श्रम को आज भी उसका जायज हिस्सा और अपेक्षित सम्मान नहीं मिल पाता। आज भी अपने श्रम का मोल और सामाजिक बराबरी का अपना अधिकार माँगने वालों का वही हथ्र होता है जो राहु का हुआ था। □

एक स्त्री ने रचा मुक्ति का आख्यान

सुधीर विद्यार्थी

पिता को यह सब खबर लगी तो उन्होंने बेटी को समझाया कि पढ़े और राजनीति से दूर रहे। यदि वह ऐसा नहीं करेगी तो उनकी नौकरी पर भी बात आ सकती है। पर दीदी को यह कहाँ सुहाता। पहली बगावत उन्होंने घर से ही की। उन्होंने स्पष्ट कह दिया कि उनके लिए देश का ध्येय जीवन से छूटेगा नहीं, घर छूटे तो छूटे। इस तरह दीदी ने अपने जीवन की लकीर स्वयं खींच डाली। वे दो साल तक लौटी ही नहीं। देश का काम करने के लिए उन्होंने क्रान्तिकारी मार्ग का अनुसरण कर लिया।



लेखक क्रान्तिकारी इतिहास के अन्वेषक व विश्लेषक हैं।
+919760875491
vidyarthiandars@gmail.com



यह जानना कितना रोमांचकारी है कि भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन के समय काकोरी काण्ड के मुकदमे की पैरवी के लिए सुशीला दीदी ने अपनी शादी के लिए रखा हुआ दस तोला सोना उठाकर दान में दे दिया था। साइमन कमीशन का विरोध करते समय लाला लाजपतराय पर लाठियाँ बरसाने वाले ब्रिटिश पुलिस अफसर साण्डर्स को मारने के बाद भगतसिंह जब दुर्गा भाभी के साथ छद्म वेश में कलकत्ता पहुँचे तब वहाँ रेलवे स्टेशन पर उनका स्वागत करने सुशीला दीदी और भाभी के पति (शहीद) भगवतीचरण ही पहुँचे थे। भाभी ने एक बार अपनी स्मृतियों को कुरेदते हुए बताया था—‘मैं और भगतसिंह जब लखनऊ पहुँच गये तो वहाँ प्लेटफार्म से सुशीला दीदी को कलकत्ता तार दे दिया था ताकि वे स्टेशन पर मिल सकें। तार में मेरे नाम की जगह भगतसिंह ने ‘दुर्गावती’ लिख दिया था जिससे कि खुफिया पुलिस को पता न चले। सुशीला दीदी सोचती रहीं कि—ये दुर्गावती कौन है? यद्यपि यही सुशीला दीदी थीं जिन्होंने मुझे पहले-पहल ‘भाभी’ कहना शुरू किया था।’

उस समय सुशीला दीदी कलकत्ता में सेठ सर छाजूराम चौधरी की बेटी सावित्री की गृहशिक्षिका थीं। छाजूराम बहुत बड़े आदमी थे जिन्हें अँग्रेज सरकार ने उन्हें ‘सर’ की उपाधि थी। पर वे थे राष्ट्रीय विचारों के। उन्होंने अपनी बेटी को मिशनरी स्कूल न भेज कर जालन्धर कन्या महाविद्यालय से ऐसी अध्यापिका की माँग की जो उनके घर पर रह कर उसे राष्ट्रीय संस्कारों की शिक्षा दे सके। वहाँ की प्रधानाचार्या श्रीमती शन्नोदेवी ने सुशीला दीदी को अपने विद्यालय की नौकरी छुड़वा कर इस कार्य के लिए कलकत्ता छाजूराम जी के घर भेज दिया। वे सेठ जी के परिवार के साथ ही सेन्ट्रल एवेन्यू वाले मकान में रहती थीं उनका अपना कमरा अलग था। सुशीला दीदी ने थोड़े ही दिनों में उस परिवार का मन जीत लिया। भगतसिंह जब फरार होकर कलकत्ता आये तो दीदी ने उन्हीं के घर ठहराना उचित समझा। उन्होंने सेठ जी की पत्नी लक्ष्मीदेवी को सब कुछ बताकर इस जोखिम भरे कार्य के लिए तैयार कर लिया था। ऐसा था दीदी का प्रभाव और व्यक्तित्व।

क्या यह कम अचरज की बात है कि साण्डर्स को मार कर आए भगतसिंह ब्रिटिश सरकार से 'सर' का खिताब पाये रईस के घर में शरण पायें। कहा जाता है कि लक्ष्मीदेवी ने दीदी को भगतसिंह की सुरक्षा का वचन देते हुए कहा था—'वह (भगतसिंह) हमारे बेटे की तरह रहेगा।' और यह वचन पूरा भी किया सेठ जी के परिवार ने। एक रोज यह हुआ भी कि सशस्त्र पुलिस ने सेठ छाजूराम की कोठी को घेर लिया। भगतसिंह ने तय कर लिया कि वे पुलिस को दिखा देंगे कि एक क्रान्तिकारी किस तरह लड़ता है। उन्होंने मोर्चा सम्भाल लिया। रिवाल्वर भर कर वे जीने के पास तन कर खड़े हो गये। पर दीदी उन्हें धकियाते हुए कमरे के भीतर ले गयीं।

भगतसिंह और बटुकेश्वर दत्त को जेल से छुड़ाने की योजना बनी तो सुशीला दीदी कलकत्ता की अपनी नौकरी छोड़कर पूरे समय दल के काम में लग गयीं। वे अपनी जगह छोटी बहन शान्ता (विवाह के बाद शान्ता बल्देव) को अपनी जगह नौकरी पर लगाकर कलकत्ता से लाहौर आ गयीं। भगतसिंह और दत्त को जेल से छुड़ाने के लिए आजाद के नेतृत्व में दल के सदस्य रवाना हुए तब भी सुशीला दीदी ने ही अपनी उंगली काटकर रक्त से उनके माथे पर टीका किया था।

बोली—'उताबली करना ठीक नहीं। शान्त होकर यहाँ बैठो। मैं देखती हूँ कि आखिर बात क्या है, पुलिस क्यों आयी है।' दीदी बाहर आयीं तो मालूम हुआ कि मामला कुछ और ही है। पुलिस वहीं ठहरे हुए प्रसिद्ध आर्यसमाजी देशभक्त भवानी दयाल संन्यासी की तलाश में आयी है जिन पर सरकार के विरुद्ध भाषण देने का आरोप है। स्वामी जी कोठी में नहीं मिले तो पुलिस वापस चली गयी। अब भगतसिंह ने राहत की सांस ली और दीदी ने भी। पर यह सब दीदी की अद्भुत सूझबूझ और धैर्य से ही सम्भव हो सका जिससे एक बड़ी घटना होते-होते टल गयी।

सुशीला दीदी ने कभी लिखा था—'... जुग-जुग गगन लहरावे झण्डा भारत दा।'

यह उस समय की बात है जब 1921 में गाँधी जी को छह साल की सजा हुई थी। देशबन्धु चितरंजन दास एक बार लाहौर आये तो दीदी ने एक सार्वजनिक सभा में अपना यह पंजाबी गीत सुनाया जिस पर देशबन्धु रो

पड़े। भारत-कोकिला सरोजनी नायडू भी उनका गीत सुनकर भाव विभोर हो उठी थीं। राष्ट्रभक्ति की कविताएँ लिखना उन्होंने छोटी उम्र से शुरू कर दिया था। 5 मार्च 1905 को पंजाब के दत्तोचूहड़ (अब पाकिस्तान) में जन्मी दीदी की शिक्षा जालंधर के आर्य कन्या महाविद्यालय में हुई जहाँ वे 1921 से 1927 तक रहीं। पिता डॉ. कर्मचन्द सेना में चिकित्साधिकारी थे पर उनके ऊपर आर्यसमाजी विचारों का गहरा प्रभाव था। सुशीला दीदी भाई-बहनों में सबसे बड़ी थीं। पिता फौज की नौकरी में थे। माँ बचपन में ही नहीं रहीं इसलिए सभी बच्चे गुजरवाला में अपने चाचा के यहाँ रहते थे और बड़े होने के कारण भाई-बहनों की जिम्मेदारी सुशीला दीदी पर ही अधिक थी।

अपने दो भाइयों और तीन बहनों को स्कूल भेजने लायक बड़ा करने तक उन्होंने घर का कामकाज ही सम्भाला। यही कारण था कि उनकी शिक्षा देर से शुरू हुई। इसी दौरान पंजाब से कुछ छात्रों का एक दल देहरादून हिन्दी साहित्य सम्मेलन में हिस्सेदारी करने गया। इसमें सुशीला दीदी भी थीं। वहाँ उनकी मुलाकात लाहौर के नेशनल कालेज से आए कुछ छात्रों से हुई जो क्रान्तिकारी दल से जुड़े थे और वे भगतसिंह आदि से परिचित थे। इसके बाद दीदी भगवतीचरण और उनकी क्रान्तिकारिणी पत्नी दुर्गा देवी (भाभी) से मिलीं। उन्हीं दिनों इन लोगों ने जालन्धर में कुछ गुप्त क्रान्तिकारी पर्चे बाँटने का काम राष्ट्रीय भावनाओं से जुड़ाव रखने वाली लड़कियों को भी दिया। दीदी ने भी उस समय इस जोखिम भरे कार्य को अपनी सहपाठिनी लीला के साथ मिलकर कुशलतापूर्वक सम्पन्न किया। देश के कार्य के लिए यह उनकी पहली परीक्षा थी जिसमें वे ठीक से उत्तीर्ण हो गयीं।

19 दिसम्बर 1927 को काकोरी के चार क्रान्तिकारियों की फाँसी की सजा का समाचार जब दीदी को मिला तो वे बेहोश हो गयीं। उस रोज उनका बीए का पहला पर्चा था और वे परीक्षा हॉल में बैठी हुई थीं।

पिता को यह सब खबर लगी तो उन्होंने बेटी को समझाया कि पढ़े और राजनीति से दूर रहे। यदि वह ऐसा नहीं करेगी तो उनकी नौकरी पर भी बात आ सकती है। पर दीदी को यह कहाँ सुहाता। पहली बगावत उन्होंने घर से ही की। उन्होंने स्पष्ट कह दिया कि उनके लिए देश का ध्येय जीवन से छूटेगा नहीं, घर छूटे तो छूटे। इस तरह दीदी ने अपने जीवन की लकीर स्वयं खींच डाली। वे दो साल तक लौटी ही नहीं। देश का काम करने के लिए उन्होंने क्रान्तिकारी मार्ग का अनुसरण कर लिया। सेना से अवकाश के पश्चात पिता भी नौकरी की ओर से मुक्त हो गये। अब उनके भीतर भी बड़ा परिवर्तन आया। वे भी 'रायसाहबी' और 'युद्ध-सेवा मेडल' तुकरा कर राष्ट्रवादी बन बैठे। लेकिन बेटी तो इस रास्ते पर बहुत दूर जा चुकी थी। वह वहाँ पहुँच गयीं जिस जगह देश के शीर्षस्थ क्रान्तिकारी देश की आजादी के लिए जीवन और मरण का खेल खेल रहे थे। अब चन्द्रशेखर आजाद और भगतसिंह की सहयोगिनी थीं सुशीला दीदी।

जब क्रान्तिकारी दल ने 8 अप्रैल 1929 को भगतसिंह और बटुकेश्वर दत्त को केन्द्रीय असेम्बली में बमों का विस्फोट करने के लिए भेजना तय किया उस समय भी भाभी लाहौर में थीं। ऐक्शन से एक दिन पहले दोपहर बाद सुखदेव ने भगवती भाई को तलाश किया। बोले—'भगतसिंह से अन्तिम बार मिल लेना चाहते हो तो आज रात की गाड़ी से दिल्ली चलो।...भाभी को भी साथ ले लो।' उस समय सुशीला दीदी भी लाहौर में भगवती भाई के यहाँ ठहरी हुई थीं। वे भी साथ गयीं। लाहौर से कलकत्ता तक की यात्रा में भाभी का तीन वर्ष का पुत्र शची भगतसिंह से बहुत हिल गया था। भगवती भाई के साथ भाभी और सुशीला दीदी दिल्ली चले तो शची भी साथ में था। 8 को प्रातः दिल्ली पहुँचकर सुखदेव ने उन लोगों से कश्मीरी गेट के पास निकलसन पार्क में प्रतीक्षा करने को कहा और स्वयं कहीं

और चले गये। कुछ ही समय बीता कि सुखदेव के साथ भगतसिंह वहाँ आ गये। इस पर कोई चर्चा नहीं हुई कि क्या होने जा रहा है। भगतसिंह को रसगुल्ले और सन्तरे बहुत पसन्द थे इसलिए दीदी और भाभी ये सब साथ लेकर आयी थीं। विदा करने से पहले दोनों क्रान्तिकारी महिलाएँ भगतसिंह को उनकी मनपसन्द चीजें खिला रही हैं। दीदी ने भगतसिंह से बहुत कहा—‘तुम इस काम के लिए न जाओ। भैया (आजाद) का कहना मान जाओ। अभी देश को बहुत जरूरत है तुम्हारी।’ परन्तु भगतसिंह नहीं माने। बोले—‘दीदी, अब विदा करो।’ फिर भगतसिंह ने झुककर उनके पाँव छुए। कहा—‘आशीर्वाद न दोगी?’ दीदी और भाभी ने अपने अंगूठे को चीर कर रक्त से भगतसिंह के माथे पर तिलक किया और उन्हें अश्रुपूर्ण विदाई दी।

भगतसिंह और उनके साथियों पर जब ‘लाहौर षड्यन्त्र केस’ चला तो दीदी भगतसिंह के बचाव के लिए चन्दा जमा करने कलकत्ता पहुँचीं। सुभाष बाबू ने भवानीपुर में एक सभा करके दीदी को मंच पर बैठाया और जनता से ‘भगतसिंह डिफेन्स फण्ड’ के लिए धन देने की अपील की। कलकत्ता में दीदी ने अपने इस अभियान के लिए अपनी महिला टोली के साथ ‘मेवाड़ पतन’ नाटक का मंचन करके भी 12 हजार रूपए जमा किए थे।

भगतसिंह और बटुकेश्वर दत्त को जेल से छुड़ाने की योजना बनी तो सुशीला दीदी कलकत्ता की अपनी नौकरी छोड़कर पूरे समय दल के काम में लग गयीं। वे अपनी जगह छोटी बहन शान्ता (विवाह के बाद शान्ता बल्देव) को अपनी जगह नौकरी पर लगाकर कलकत्ता से लाहौर आ गयीं। भगतसिंह और दत्त को जेल से छुड़ाने के लिए आजाद के नेतृत्व में दल के सदस्य रवाना हुए तब भी सुशीला दीदी ने ही अपनी उंगली काटकर रक्त से उनके माथे पर टीका किया था। पर यह योजना कामयाब नहीं हुई। अज्ञातवास में जाने से पहले दीदी ने भगतसिंह को जेल के भीतर अपनी राखी के साथ जो पत्र भेजा उसके प्रकाशन पर एक ‘स्वतन्त्र भारत’ के सम्पादक श्री भागवत को राजद्रोह के आरोप में दस हजार रूपए जुर्माना और छह साल की कैद की सजा हुई थी।

सुशीला दीदी के नाम तब दो गिरफ्तारी वारन्ट थे। उन्हें पकड़वाने के लिए ईनाम भी घोषित किया गया था। फिर भी 1932 में प्रतिबन्धित काँग्रेस के दिल्ली अधिवेशन में वे ‘इन्दु’ नाम से एक महिला टोली का नेतृत्व करते हुए जेल पहुँच गयीं और छह महीने की पूरी सजा काटकर बाहर आयीं लेकिन सरकार को असलियत का पता भी न चला कि यह ‘इन्दु’ ही सुशीला दीदी हैं। आगे चल कर दीदी भी एक दिन पुलिस के हाथ आ गयीं। पार्लियामेन्ट स्ट्रीट वाले थाने में ले जाकर रखा गया उन्हें। पर उन पर मुकदमा चलाने का आधार नहीं मिला पुलिस वालों को। इसके बाद दीदी को आदेश मिला कि वे 24 घंटे के अन्दर दिल्ली छोड़ दें।

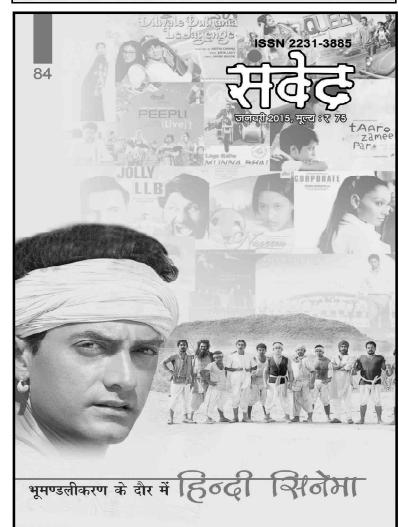
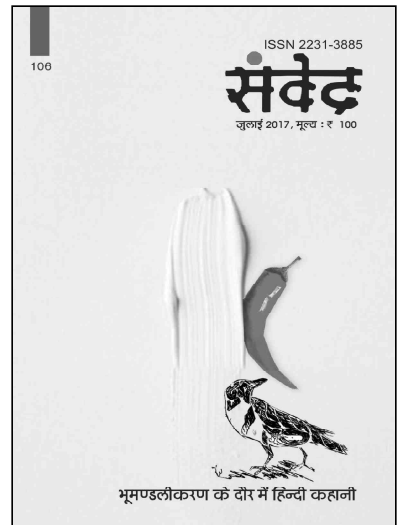
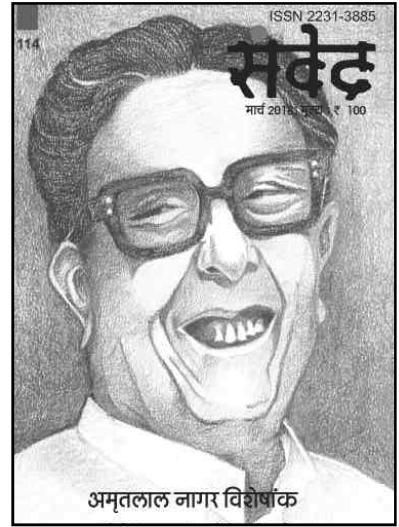
अब दीदी अपने घर पंजाब चली गयीं। वहीं 1933 में उन्होंने दिल्ली के अपने सहयोगी वकील श्याम मोहन से विवाह कर लिया। इसके बाद वे ‘सुशीला मोहन’ बन गयीं। बयालिस आया तो दीदी ने इस बार पति के साथ ही 24 अक्टूबर 1942 को जेल यात्रा की। सरकार ने श्याम मोहन को दिल्ली और दीदी को लाहौर की जेल में रखा।

कई वर्ष पहले मुझे दिल्ली के एक मित्र ने बताया कि दीदी आजादी के बाद पुरानी दिल्ली के बल्लीमारान में एक शिल्प विद्यालय का संचालन करने लगी थीं। उन्होंने यह भी जानकारी दी उस विद्यालय के प्रधानाचार्य कक्ष में सुशीला दीदी का एक चित्र लगा हुआ है पर वहाँ उनके बारे में कोई नहीं जानता।

अपने जीवन के बाद के दिनों में दीदी लगभग मौन रहने लगी थीं। कोई कुछ कहता या पूछता तो वे खामोश रह जातीं। कभी बोल फूटता भी तो यही कि जब देश को जरूरत थी, मैंने अपना फर्ज पूरा किया। अब कुछ कहूँगी तो लोग समझेंगे कि उन सेवाओं का बदला चाहती हूँ मैं। कभी झांसी वाले इसी अनोखे क्रान्तिकारी ने सुशीला दीदी को ‘भारत की जोन ऑफ आर्क’ कहा था। सचमुच दीदी थीं भी इसी जीवट की। उनका निधन 3 जनवरी 1963 को हुआ।

दिल्ली में फतेहपुरी से चांदनी चौक घंटाघर तक जाने वाली सड़क का नाम ‘सुशीला मोहन मार्ग’ रखा गया था, पर वहाँ सुशीला (दीदी) मोहन के नाम और काम से कोई परिचित नहीं। □

संवेद के कुछ महत्वपूर्ण अंक



बी-3/44, सेक्टर-16, रोहिणी, दिल्ली-110089
samvedmonthly@gmail.com

ऐसे भी जीते हैं लोग

ऑनलाइन देखीं

मणीन्द्र नाथ ठाकुर

‘लोकायत’ की खासियत उसके सदस्यों का जीवन दर्शन है। पता चला कि इस संगठन के बहुत से सदस्य नौकरी करते हैं और उनमें से ज्यादातर लोग आइ टी उद्योग में हैं। दिन भर अपना काम करने के बाद कार्यालय में जमा होते हैं और दिन भर की थकान को परे रख कर अलग तरह के काम में जुट जाते हैं। फिर उसी शिद्दत के साथ शनिवार और रविवार का इन्तजार करते हैं जब उन्हें या तो किसी पब्लिक लेक्चर या फिर किसी मुद्दे पर जनजागरण या किसी न किसी मुहल्ले के संवाद में लगना है।



लेखक समाजशास्त्री और जे.एन.यू.
में प्राध्यापक हैं।
+919968406430
manindrat@gmail.com



पिछले दिनों पुणे की एक संस्था ‘लोकायत’ ने गाँधी पर एक व्याख्यान देने के लिए मुझे आमन्त्रित किया था। इस व्याख्यान के बहाने मुझे पहली बार पुणे जाने का मौका मिला। इस शहर के बारे में मेरी उत्सुकता काफी थी। इसका इतिहास और वर्तमान दोनों मेरे लिए कौतुहल का विषय था। शहर तो बहुत ज्यादा देख नहीं पाया। लेकिन ‘लोकायत’ के लोगों से मिल कर बहुत सुकून हुआ। उनके बारे में जितना जान पाया उससे लगा कि उनके रहन-सहन का यह विशिष्ट तरीका नवउदारवादी अपसंस्कृति के दौर में एक तरह का सांस्कृतिक उपचार और वैकल्पिक जीवन का प्रस्ताव है। इस संगठन के बारे में अपने मित्र अपूर्वानन्द और मनोज झा से बहुत कुछ सुन रहा था। इसलिए निमन्त्रण मिलते ही मैंने स्वीकार कर लिया। शहरों को समझने का मेरा प्रयास बहुत दिनों से चल रहा है। इस प्रयास में मेरी जिज्ञासा है कि आज के भारत में ऐसे शहर कितने हैं जहाँ जीवन और जगत के सन्दर्भ में न सिर्फ नयी सोच उभर रही है बल्कि नवाचारी प्रयोग भी

हो रहे हैं। ‘सबलोग’ के पाठकों को याद होगा इस सन्दर्भ में कलकत्ता, राँची, पटना, चंडीगढ़, भोपाल, पूर्णिया जैसे शहरों के बारे में मैंने लिखा है।

आम तौर पर मैं शहर के बीच किसी ऐसे होटल या गेस्ट हाउस में ठहराना पसन्द करता हूँ जहाँ से अहले सुबह शहर की यात्रा शुरू की जाए और उसके मिजाज को समझा जा सके। ‘लोकायत’ के संयोजक नीरज जी से पूछा कि ठहरने का इन्तजाम क्या है। उनके जवाब ने दुविधा में डाल दिया। उनका अनुरोध था कि घर पर उनके साथ ही ठहरा जाए। मेरे मित्रों ने बताया कि होटल में ठहरना उन्हें अच्छा नहीं लगेगा और मुझे यह भी बताया गया कि उनका आतिथ्य बौद्धिक रूप से भी बड़ा आनन्ददायक रहता है। मैंने ऐसा ही किया और सचमुच पहली बार किसी अपरिचित व्यक्ति के घर ठहरने में आनन्द आ गया। संगठन के दो युवा सदस्य हवाई अड्डे पर ही स्वागत के लिए आ गये और पुणे शहर को दिखाते-घुमाते हुए अपने घर ले आये। रास्ते भर मैं उन साथियों से संगठन

और शहर के बारे में सवाल करता रहा और वे तसल्ली से जवाब देते रहे। दोनों शहर में किसी आई टी कम्पनी में काम करते थे लेकिन बखूबी अपने सामाजिक सरोकारों के बारे में और शहर की कमियों और खूबियों के बारे में बताते रहे। घर पहुँचने पर भी बातों का सिलसिला जारी रहा। बिना किसी औपचारिकता के हम एक के बाद एक मुद्दे पर एक दूसरे को अपना विचार बताते रहे। आर्थिक नीति से लेकर गाँधी, धर्म, अध्यात्म, जनान्दोलन, वामपन्थ आदि आदि, हमारी बातचीत का विषय बना रहा। बातों के सिलसिले में समय का पता ही नहीं चला। अभी तक संस्था के बारे में ज्यादा बातें नहीं हो पायी थीं। केवल इतना पता चला था कि नीरज आई आई टी बनारस में पढ़ते थे और उसी समय वामपन्थी आन्दोलन के साथ जुड़ गये थे, कभी नौकरी नहीं की। ज्यादातर समय आन्दोलन के कामों में ही गुजरा। कुछ समय बाद इस आन्दोलन से असन्तोष हुआ और फिर नये तरह के काम में लग गये। इसी क्रम में अलका से मुलाकात हुई जो अब तक बैंक कर्मचारियों के आन्दोलन में सक्रीय थीं। फिर दोनों साथ हो लिए और पुणे को अपना कर्म क्षेत्र बना लिया। पुणे इसलिए कि छोटा शहर था और जीवन आसान था। किसी मित्र ने अपना फ्लैट रहने को दे दिया था और एक मित्र ने शहर के महत्वपूर्ण इलाके में अपने मकान का एक हिस्सा 'लोकायत' के कार्यालय के लिए दे दिया था।

सुबह जब बात और खुली तो पता चला कि यह एक आम संगठन नहीं है। ऐसे कई संगठनों के लोगों से मिलने का मुझे मौका मिला, जिनकी कहानी कमोबेश एक जैसी रहती है। लेकिन 'लोकायत' की खासियत उसके सदस्यों का जीवन दर्शन है। पता चला कि इस संगठन के बहुत से सदस्य नौकरी करते हैं और उनमें से ज्यादातर लोग आई टी उद्योग में हैं। दिन भर अपना काम करने के बाद कार्यालय में जमा होते हैं और दिन भर की थकान को परे रख कर अलग तरह के काम में जुट जाते हैं। फिर उसी शिद्दत के साथ शनिवार और रविवार का इन्तजार करते हैं जब उन्हें या तो किसी पब्लिक

लेक्चर या फिर किसी मुद्दे पर जनजागरण या किसी न किसी मुहल्ले के संवाद में लगना है। आम तौर पर इस आई टी उद्योग से जुड़े लोगों का नाम आते ही मुझे बंगलौर की याद आती है, जहाँ बड़े पैमाने पर इस काम से जुड़े लोग रहते हैं। शायद इस उद्योग की कुछ अपनी समस्याएँ हैं। यह बौद्धिक काम है भी और नहीं भी है। इंसान की भाषा से अलग एक खास तरह की भाषा में सोचते हैं और लिखते हैं, जो इंसानों से बात करने वाले मशीनों की भाषा है। शायद मशीनों की भाषा से वे तंग आ जाते हैं और इंसानों की खोज में निकलते हैं। कई वर्षों पहले मेरे एक छात्र ने मुझे बताया था कि उसके साथ भी ऐसा ही कुछ हुआ था और इस नौकरी को छोड़ कर पुनः राजनीतिशास्त्र में स्नातक करने आ गया था। लेकिन बंगलौर में यह खोज उन्हें ले जाती है या तो नये युग के धार्मिक बाबाओं के पास जहाँ अध्यात्म उन्हें सुकून देता है या फिर उन पब्स में जहाँ जा कर शराब और शबाब से अपने होने का उन्हें ऐहसास होता है। ऐसा कहना उचित नहीं होगा कि सभी यही करते हैं लेकिन उस शहर में इन दोनों के बहुतायत से तो यही लगता है कि इस अनुमान में कुछ तथ्य है। इसके ठीक विपरीत पुणे के ये लोग जो मशीनी भाषा के जानकार तो जरूर हैं, लेकिन समय मिलते ही पब्स या आध्यात्मिक बाबाओं के बदले समाजिकता में अपने अस्तित्व की खोज करते हैं।

इस खोज की प्रक्रिया बहुत रोचक है। काम से लौटने के बाद उनके सामूहिक जीवन का एक नया रंग होता है। एक सामूहिक भोजनालय है जहाँ उनका शाम का खाना बनता है। लोग देर रात तक बैठ कर अलग-अलग तरह के कार्यक्रमों की योजनाएँ बनते हैं और उसे कार्यरूप देने का प्रयास चलता रहता है। इस समूहिकता में अपनी आमदनी एक हिस्सा उदारता से खर्च करते हैं और अपने उन साथियों का भी ध्यान रखते हैं जिनकी आमदनी या तो नहीं है या बहुत कम है। 'साथी हाथ बटाना साथी रे' के तर्ज पर प्रतियोगिता के बदले सहयोग के जीवन का एक अच्छा नमूना देखने को मिलता

है। उनकी बातों में न तो उनको मिलनेवाले 'पैकेज' का जिक्र होता है न ही कारों के मॉडल का और न ही तुरन्त धनी हो जाने की योजनाओं का। इसे देख कर मुझे प्रसिद्ध जापानी चिन्तक कोजिन करातानी की याद आयी। जापान में जब पिछली बार भयंकर भूकम्प आया था तो उस समाज के व्यवहार का अध्ययन कर उन्होंने एक लेख लिखा था। उसका सार यह था कि संकट की घड़ी में जापान के कुछ समूहों में एक नया प्रयोग चल रहा था, जिसमें प्रतियोगिता के बदले सहयोग के समाज की कल्पना की जा रही थी। करातानी का मानना था कि विश्वयुद्ध के बाद जापान संकट से उभर तो जरूर गया लेकिन उसने आधुनिक पश्चिमी समाजिक दर्शन को अपना लिया था, जिसने जापान में गहरा सामाजिक संकट पैदा किया है। उनके अनुसार जिस तरह से परमाणु संयन्त्रों के प्रभाव क्षेत्र में रहनेवाले लोगों ने पानी के संकट का समाधान किया उससे बदलाव की एक नयी उम्मीद नजर आती है। इस बात की समझ लोगों को होने लगी है कि मनुष्य के आपसी सहयोग पर आधारित समाज की नयी कल्पना करनी होगी और इससे ही मानव जाति का भी कल्याण है और मनुष्य और प्रकृति के बीच के सम्बन्ध के बदलने की सम्भावना भी होगी। पश्चिम के आधुनिक दर्शन ने जो मनुष्य के स्वभाव की कल्पना की है वह एक तरह की कल्पना मात्र है जिसने वास्तविकता का रूप ले लिया है और उससे निकलने की जरूरत भी है ऐसा होना सम्भव भी है। 'लोकायत' के लोगों से बात कर ऐसा लगा कि यह नवीन कल्पना केवल जापानी समाज में नहीं हो रही है बल्कि भारत में भी हो रही है। शायद यह एशियाई समाज के दर्शन की उपज हो।

'लोकायत' की खासियत है कि पुणे शहर में लगातार कार्यक्रम आयोजित करता है। इतनी व्यस्तताओं के बावजूद लोग जमा होते हैं और समाज के बिखराव को रोकने की कोशिश करते हैं। पिछले क्रिसमस में इनका जत्था शाम में अपने बैंड ग्रुप के साथ सड़क पर गाते हुए निकल गया और फिर बहुत से लोग जमा हो गये, नये ढंग से

क्रिसमस मनाया गया। ऐसे ही अनेक त्योहारों में बाहर निकल कर सामूहिक रूप से उसे मनाए जाने की यह योजना मुझे बेहद रोचक लगी। सम्प्रदायों के बीच की दूरियों को हम तभी काम कर सकते हैं जब उनके साथ त्योहार मनाएँ। इन त्योहारों पर किसी का एकाधिकार नहीं हो सकता है। गाँधी ने एक बार किसी से कहा था कि जीसस पर केवल ईसाइयों का एकाधिकार कैसे हो सकता है। ऐसे ही बाँक भगवानों को भी इन साम्प्रदायिक ताकतों से छीन लेने के लिए यह तरीका ठीक है। यह संगठन 'बस्तियों' में काम करता है। बस्ती का अर्थ समझने में मुझे देर लगी। वहाँ स्लम को बस्ती कहा जाता है और बहुत से सदस्य इन बस्तियों से आते हैं। संगठन उनके जीवन में उत्साह भी भरता है अर्थ भी, यह देख कर मुझे छत्तीसगढ़ मुक्ति मोर्चा के साथ बिताए अपने दिन याद आ गये। मैं नब्बे के दसक में दिल्ली राजहरा गया था। उनका अपना विद्यालय था, चिकित्सालय था और आदिवासियों के बीच उनका काम था। अद्भुत उत्साह और आत्म विश्वास भरा था इस संगठन ने उनमें, नशामुक्ति का पूरा आन्दोलन चलाया था। इसी तरह अररिया और औरंगाबाद में भी कुछ प्रयोग चल रहे हैं। यह प्रयोग उन सबसे अलग इस मायने में है कि यह शहर में है और नौकरी करनेवाले लोग इसमें शामिल हैं। अध्ययन, अध्यापन और लेखन भी इनके कामों में प्रमुख है। देश भर के महत्त्वपूर्ण चिन्तकों को बुलाकर शहर में पब्लिक लेक्चर आयोजित किया जाता है। खास बात यह भी है कि इन कार्यक्रमों में सभागार खचाखच भरा रहता है।

इस संगठन के सदस्यों से बात करने का मेरा अनुभव भी रोचक रहा। मुझे बताया गया कि इनके बीच एक बहस यह चल रहा है कि 'ईश्वर तेरे नाम, अल्लाह तेरे नाम' गाया जाना कहीं धर्मिकता के दायरे में तो नहीं माना जाएगा। मेरे लिए तो यह सही विषय था क्योंकि मैंने लैटिन अमेरिकी लिबरेशन थीयोलोजी पर शोध किया है; गाँधी, मार्क्स, अम्बेडकर और टैगोर के विचारों में धर्म की अवधारणा पर काम किया है और मेरा तर्क है कि मुक्तिकामी धर्म की खोज

ही इनकी मुख्य उपलब्धि है। धर्म एक तरह की ज्ञान परम्परा पर आधारित है और इसके मूल में संस्थाएँ, रिचूअल या सामाजिक नियम नहीं हैं, बल्कि एक तरह की आध्यात्मिकता है और जरूरत पड़ने पर आध्यात्मिकता को आधार बनाकर धर्म सुधार का आन्दोलन होना आवश्यक है। यदि कोई धर्म मनुष्य को उसके उच्चतम उपलब्धियों तक पहुँचने की बाधाओं से उसे मुक्त नहीं करता हो तो वह धर्म ही नहीं सकता है। लगभग तीन-चार घण्टों तक हमारे बीच आध्यात्मिकता को लेकर बहस होती रही।

इस बहस की शुरुआत मैंने विज्ञान के दर्शन से की। मेरे लिए यह पहला मौक़ था जब किसी जनान्दोलन के कार्यकर्ताओं के बीच विज्ञान के दर्शन की बात कर रहा था। शायद समय के अभाव में मैं सारी बातों को ठीक से खोल कर कह भी नहीं पा रहा था, लेकिन मुझे इस संवाद में बेहद मजा आ रहा था, क्योंकि इसका दवाब नहीं था कि ये बातें उनके ऊपर से निकल सकती थीं। मैंने विज्ञान के इतिहास और उससे सम्बन्धित दर्शन के इतिहास की बात करते हुए यह तर्क देने का प्रयास किया कि अध्यात्म भी मनुष्य की संरचना का हिस्सा है। ईश्वरवाद पर बहस तो प्रपंच मात्र है। जिस तरह से काम मनुष्य के स्वभाव का नैसर्गिक हिस्सा है ठीक उसी तरह अध्यात्म भी है। मनुष्य का आध्यात्मिक होना एक स्वाभाविक प्रक्रिया है। और गाँधी जब धर्म की बात करते हैं तो इसी नैसर्गिकता की बात करते हैं। सवाल पर सवाल आते रहे। थोड़ी देर के लिए तो मैं भूल ही गया कि मैं जवाहरलाल नेहरू वि.वि. की अपनी कक्षा में नहीं हूँ। सबसे खास बात यह थी कि ये सवाल 'लोकायत' के लोगों से आ रहे थे जिसका नाम ही उस दर्शन की ओर इंगित करता है जिसके बारे में माना जाता है कि अध्यात्म के सवाल में उसकी रुचि नहीं है। मेरे खयाल से यह महज संयोग है कि लोकायत की व्याख्या मैं भौतिकवादी दर्शन की तरह नहीं कर यथार्थवादी दर्शन की तरह करता हूँ, जिसमें ईश्वर का सवाल तो गौण है लेकिन अध्यात्म का सवाल महत्त्वपूर्ण है। मेरे खयाल से इस

बात को यदि ठीक से समझ लिया जाए तो बहुत से आध्यात्मिक बाबाओं की दुकानें बन्द हो सकती हैं। मैं मार्क्स को भी भौतिकवादी की जगह यथार्थवादी मानता हूँ और गाँधी को नैतिक यथार्थवादी। बहुत ही खुल कर इन बातों पर बहस होती रही और मैं इस संगठन की गहराई को नापता रहा। मेरे लिए यह लोकायत दर्शन से उपजे सवाल भी थे। आजकल बहुत से मार्क्सवादी विचारक दक्षिणी स्पेन के मॉडरेगोन प्रयोग की बात करते हैं जो सहकारिता का बेहतरीन उदाहरण है। वे मानते हैं कि यह भविष्य के समाजवाद के लिए एक तरह का मॉडल है। गौर करने की बात यह है कि इस प्रयोग में भी आध्यात्मिकता का महत्त्वपूर्ण योगदान है, इस प्रयोग की शुरुआत एक ईसाई पादरी ने की थी और उसके द्वारा बनाए गये मूल्य अभी भी सर्वमान्य हैं जिसका आधार आध्यात्मिकता है।

जीने के इस तरीके में भविष्य का जीवन दर्शन है। इसमें रोज की जिन्दगी और दर्शन अलग-अलग नहीं है। मैं यह मानता हूँ कि आज का सबसे बड़ा वैचारिक संकट है जीवन, चिन्तन और ज्ञान अलगाव। हम अपने जीवन पर चिन्तन नहीं करते हैं, और अपने चिन्तन को ज्ञान का माध्यम नहीं बनाते हैं। जो ज्ञान हमारी पुस्तकों और विश्वविद्यालय में प्राप्य है वह हमारे चिन्तन को प्रभावित नहीं करता है और इसलिए हम अपने जीवन में वैचारिक प्रयोगों से वंचित रह जाते हैं। यदि आप गाँधी की आत्मकथा को पढ़ें तो उसका मूल कथ्य यही है कि इन तीनों के बीच एक सामंजस्य बनाने की जरूरत है और वही मनुष्य होने का मतलब है, जीवन का अर्थ है। यदि ऐसा हो सके तो हमारे समाज की वैचारिक शून्यता खत्म हो सकती है और पूँजीवादी मानसिकता से मुक्ति पा सकते हैं। हमारी वैचारिक गुलामी खत्म हो सकती है। हर मनुष्य यदि विचारवान हो सके तो ही हम ऐसे समाज के बारे में सोच सकते हैं जिसमें 'सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः' की कल्पना हो सके। मुझे यह जान कर अच्छा लगा कि ऐसे भी जीते हैं लोग और यह सचमुच जीने योग्य जिन्दगी है। □

नयी वाली हिन्दी के कारनामे

देशकाल

राहुल सिंह

साहित्य की मुख्यधारा की किताब का सफर किसी आलोचक के हाथों लोकार्पित होने से शुरू होता था, साहित्यिक पत्रिकाओं में प्रकाशित समीक्षाओं और अकादमिक या लेखक संगठनों द्वारा प्रायोजित संगोष्ठियों के रास्ते वह आगे का सफर तय करती थी। 'नयी वाली हिन्दी' इन पुराने तौर तरीकों का लोड नहीं लेती है। उसकी कोशिश खुद पाठकों तक उपलब्ध माध्यमों से पहुँचने की हो गई है। लेखक अब खुद सेल्समैन की भूमिका में है। फेसबुक, ट्विटर, व्हाट्स अप के जरिये वह आपके दरवाजे की कॉल बेल बजा रहा है। वह खुद आपको उस पर दो पंक्तियाँ लिख देने का आग्रह कर रहा है।



लेखक हिन्दी के युवा आलोचक हैं।
+919308990184
alochakrahul@gmail.com



रवीन्द्र कालिया के दौर में युवा पीढ़ी का एक शोर मचा था। फिर एक युवा पीढ़ी भी सामने आयी थी। अब दुबारा एक वैसा ही शोर 'नयी वाली हिन्दी' के नाम पर साहित्यिक हलकों में फिर से है। विशेषकर सोशल मीडिया में इस 'नयी वाली हिन्दी' की धूम है। कायदन इस 'नयी वाली हिन्दी' से आशय क्या है? इससे आशय 'फिक्शन' के उस 'जॉनर' से है जो हिन्दी में चेतन भगत मार्का साहित्य का पर्याय हो गया है। चेतन भगत ने अपनी किताबों के जरिये जो व्यावसायिक सफलता हासिल की है, 'नयी वाली हिन्दी' उसी रास्ते हिन्दी में चलने की कोशिश कर रही है। इसलिए चेतन मार्का अँग्रेजी की जो खासियत थी, उसे तो यह धारण किये हुए है ही कई और बातों को इसने अपने ढंग से जोड़ा भी है। मसलन इस देश में हिन्दी जितने ढंग से बोली जाती है, अँग्रेजी नहीं। हिन्दी की उन स्थानीय छौंकों के साथ यथाप्रसंग अँग्रेजी को पिरोते चलना इस नयी वाली हिन्दी की एक अदा है, जो इसे पाठकीय सम्प्रेषण के धरातल पर एक ताजगी प्रदान

करती है। भाषागत शुचिता और शुद्धतावादी आग्रहों से मुक्त यह हिन्दी सम्प्रेषण के स्तर पर मजा को बुनने में यकीन रखती है। एक स्तर पर यह आज की युवा पीढ़ी के भाषा बोध के निकट पड़ती है। भाषा के जिस फ्यूजन को हम 'हिंग्लिश' या 'इन्दी' कहते हैं, 'नयी वाली हिन्दी' में यह तो शामिल है ही, जो इसमें नया है, वह है स्थानीय प्रभावों के कारण हिन्दी में आयी तब्दीलियाँ, जो अमूमन बोलचाल तक सीमित थी। 'नयी वाली हिन्दी' उसे बोलबाजी को साहित्य के पन्नों तक खींच लाई है।

'नयी वाली हिन्दी' ने जो एक और काम किया है और वह यह कि मुख्यधारा के हिन्दी साहित्य में कैशोर्य और युवापने के संक्रमण काल को लेकर अलग से कोई साहित्य मौजूद नहीं था। था भी तो उसका पता साहित्य के गम्भीर अध्येताओं को था। उस तक तुम्हें से पहुँचना गैर साहित्यिक पृष्ठभूमि वाले के लिए सहज नहीं था। इसने उस आयुवर्ग के लिए एक 'जॉनर' ही खड़ा कर दिया है। इससे हुआ यह है कि गैर

साहित्यिक पृष्ठभूमि वाला एक बड़ा वर्ग जो इन चीजों का आनन्द लेना चाहता था, उसके लिए बकायदा एक प्रोडक्ट बाजार में है, जिसे आप 'नयी वाली हिन्दी' के नाम पर देख-पढ़ सकते हैं। इसमें आपको मैनेजमेंट, आई टी, देश के अलग-अलग अकादमिक संस्थानों में उनके हॉस्टल्स में रहने-पढ़ने के अनुभव देखने को मिल सकते हैं। करियर और मोहब्बत के संघर्ष की झांकियाँ देखने को मिल सकती है। इंजिनियरिंग, मेडिकल, आई टी, मैनेजमेंट, सिविल सर्विस की तैयारी के किस्से मिल सकते हैं। इस तरह से देखें तो मुख्यधारा के साहित्य ने जो जगह छोड़ रखी थी, 'नयी वाली हिन्दी' ने उसे भरने का काम किया है। उससे बढ़ कर बात यह

के आखिर में उपलब्ध फार्म के साथ आप अपनी पाण्डुलिपि हिन्द युग सरीखे प्रकाशकों को भेज सकते हैं। 'नयी वाली हिन्दी' दिन-रात मार्केटिंग, डिस्ट्रीब्यूशन, एडवर्टाइजिंग के नये तरीके ढूँढने में भी मुब्तिला है। सबसे बड़ी बात इसके लिए ना तो उन्हें किसी आलोचक जैसी संस्था की जरूरत रह गयी है और ना उनके लिए इनकी कोई अहमियत रह गयी है। इनकी असली ताकत बिक्री के आँकड़े हैं, जो पाठकों पर निर्भर है। और पाठकों तक पहुँचने के इन्होंने नये तौर-तरीके ढूँढ लिए हैं।

साहित्य की मुख्यधारा की किताब का सफर किसी आलोचक के हाथों लोकार्पित होने से शुरू होता था, साहित्यिक पत्रिकाओं में प्रकाशित समीक्षाओं और अकादमिक या

के पास इस आधार पर रॉयल्टी का कोई दावा मौजूद है। यह मंच के इस्तेमाल के जरिये एक दूसरे को फायदा और वैधता देने की एक अजब सी रीत चल पड़ी है। इस खेल में प्रकाशक और सम्पादक फायदे में है, नुकसान अगर हो रहा है तो केवल पाठकों का हो रहा है। संगोष्ठियों की जगह अब लिटफेस्ट ने ले ली है। बाजारू हथकण्डों की कड़ी में 'लिटफेस्ट' एक नये किस्म का चलन है, यह एक नये किस्म की गिरोहबन्दी है। साहित्य में यह नये किस्म का प्रपंच है। इस प्रपंच ने फिलहाल तो साहित्यिक बिरादरी में भूचाल ला दिया है। जयपुर लिटरेचर फेस्टिवल जैसे कुछ नामी-गिरामी आयोजनों को छोड़ दें तो छोटे शहरों में देखा-देखी उग आये इन उत्सवों की हालत अच्छी नहीं रही।

'नयी वाली हिन्दी' अपने साथ नये किस्म के साहित्यिक संस्कार लेकर आयी है। अव्वल तो इसका लक्ष्य पाठकों को मजा देना है। 'वन टाईम रीड' वाला मामला है। इसलिए किताबों की कीमत से लेकर उसकी पृष्ठ संख्या तक का खास खयाल रखा जा रहा है। हिन्दी के बाजार की एक अच्छी समझ के साथ यह मैदान में है। व्यवसायिक सफलता के नये झंडे गाड़ने में निश्चय ही यह समर्थ है। लेकिन साहित्यिक मूल्यों के धरातल पर भी वह ऐसा ही कुछ रच पाएगी, इसका दूर-दूर तक अनुमान नहीं है। सालजयी इन रचनाओं ने इतना जरूर किया है कि 'वर्दी वाला गुण्डा' सरीखे उपन्यासों से ऊपर और 'गुनाहों का देवता' के बीच भी अगर कोई जगह हो सकती है, तो उस जगह को अपने लिए आरक्षित करने का काम किया है। कुल मिलाकर कहें तो 'नयी वाली हिन्दी' अपने नये प्रतिमानों, संस्कारों के साथ आयी है, जिसमें बहुत कुछ ऐसा है जो साहित्यिक नहीं है। लेकिन इनके बाजारू हथकण्डो को अब हिन्दी के मुख्यधारा के प्रकाशक भी कहीं छिपे तो कहीं खुले तौर पर आजमाते दिख रहे हैं। आनेवाले समय में यह कुछ दिलचस्प मंजर सामने लेकर आएगी। फिलहाल तो देखना यह है कि यह सिलसिला जाकर थमता कहाँ है!

□

'नयी वाली हिन्दी' ने सोशल मीडिया को अपने पक्ष में कैसे इस्तेमाल किया जाये, इसका बकायदा एक शास्त्र प्रस्तावित कर दिया है। विज्ञापन, विपणन, विक्रय के पुराने और पारंपरिक तरीकों से इतर इस 'जॉनर' की लगभग हर नयी किताब अपने साथ नयी किस्म की बिकाऊ हथकण्डों के साथ बाजार में आ रही है। किताबों के प्रोमोशन का मामला तो तकरीबन फिल्मों के प्रोमोशन सरीखा हो गया है। किताबों की टीजर रीलज हो रही है, किताबों के कवर रीलज हो रहे हैं, किताबों की प्री-बुकिंग तो अब पुरानी बात हो गयी है।

कि इसने अपना एक नया पाठक वर्ग भी खड़ा किया है और इस पाठक वर्ग को खड़ा करने में सोशल मीडिया की अहम भूमिका रही है।

'नयी वाली हिन्दी' ने सोशल मीडिया को अपने पक्ष में कैसे इस्तेमाल किया जाये, इसका बकायदा एक शास्त्र प्रस्तावित कर दिया है। विज्ञापन, विपणन, विक्रय के पुराने और पारंपरिक तरीकों से इतर इस 'जॉनर' की लगभग हर नयी किताब अपने साथ नयी किस्म की बिकाऊ हथकण्डों के साथ बाजार में आ रही है। किताबों के प्रोमोशन का मामला तो तकरीबन फिल्मों के प्रोमोशन सरीखा हो गया है। किताबों की टीजर रीलज हो रही है, किताबों के कवर रीलज हो रहे हैं, किताबों की प्री-बुकिंग तो अब पुरानी बात हो गयी है। अब प्री-बुक किताबों पर लेखकों की हस्ताक्षरित प्रतियाँ भिजवाये जाने का चलन है। किताबों के साथ आपके लेखक बनने की सम्भावनाएँ बेची जा रही हैं। किताब

लेखक संगठनों द्वारा प्रायोजित संगोष्ठियों के रास्ते वह आगे का सफर तय करती थी। 'नयी वाली हिन्दी' इन पुराने तौर तरीकों का लोड नहीं लेती है। उसकी कोशिश खुद पाठकों तक उपलब्ध माध्यमों से पहुँचने की हो गयी है। लेखक अब खुद सेल्समैन की भूमिका में हैं। फेसबुक, ट्विटर, व्हाट्स अप के जरिये वह आपके दरवाजे की कॉल बेल बजा रहा है। वह खुद आपको उस पर दो पंक्तियाँ लिख देने का आग्रह कर रहा है। आपकी दो पंक्तियाँ उसे अमेजॉन के 'बेस्ट रीड्स' में शामिल करा रही हैं। साम्प्रदायिक पत्रकारिता में रोज नये परचम लहराने वाले एक दैनिक अखबार ने तो बकायदा बेस्ट सेलर का एक नया खेल शुरू कर दिया है। मजे की बात यह है कि यह जो बेस्ट सेलर हैं ना ता इसके प्रकाशक यह बताते हैं कि इसकी कितनी प्रतियाँ बिकी हैं, जिसके कारण यह बेस्ट सेलर हुआ है, ना उसके लेखक

दलित साहित्योत्सव के निहितार्थ

सामयिक

अमित कुमार

आज वर्तमान में उन्हीं स्वरों को हिन्दुत्ववादी और ब्राह्मणवादी समूह जाति के बन्धनों में बाँधकर नाकाम करने में लगे हैं। समाज के अन्तर्विरोध को नकार ऐसे जातिवादी-हिन्दुत्ववादी-पितृसत्तात्मक तत्त्वों को वर्तमान सरकार शुरुआत से संरक्षण देती नजर आ रही है। फिर चाहे गौरक्षा के नाम पर दलित-मुस्लिमों की भीड़ हत्या हो या ऊना, भीमाकोरेगाँव में हिंसा जैसी घटना हो जहाँ सरेआम ऐसे तत्त्व एक समुदाय विशेष पर हमला करते हैं, या फिर सामाजिक न्याय सुनिश्चित करने की कोशिश करती आरक्षण व्यवस्था का विरोध हो, सरकारें इन सभी में विभिन्न समुदायों को एक-दूसरे के खिलाफ खड़ा करती नजर आती है।



लेखक दिल्ली विश्वविद्यालय के विधि संकाय में एल.एल.बी. प्रथम वर्ष के छात्र हैं और पूर्व में जन आन्दोलनों का राष्ट्रीय समन्वय के साथ जुड़े रहे हैं।

+918486944483

amitk.mayaganj@gmail.com



‘साहित्य की एक नयी दुनिया सम्भव है’, के नारों के साथ दलित साहित्य महोत्सव का आगाज ऐतिहासिक रहा। प्रसिद्ध लेखक साहित्यकार मोहन दास नैमिशराय, लक्ष्मण गायकवाड़, बल्ली सिंह चीमा, निर्मला पुतुल, हेमलता महिश्वरी, अब्दुल बिस्मिल्लाह, चौथीराम यादव, कर्मानन्द आर्य, बलवीर माधोपुरी, स्नेहलता नेगी, क्रान्तिपाल सिंह, सूरज बहादुर थापा, राजेश कुमार मांझी, व कई अन्यो के वक्तव्यों ने पूरे माहौल को समाज के लिए आईने में तब्दील कर दिया था। विशेष अतिथि मेधा पाटकर ने संघर्षों की व्यापकता और विकास के नाम पर जारी सरकारी दमन से लोगों को अवगत कराया जो देश के युवाओं को मिल रही शिक्षा व्यवस्था से लगभग गायब हो चुकी है।

दलित-आदिवासी, महिला, घुमन्तू आदिवासी, ट्रांसजेंडर समुदाय, किसान, मजदूर, व हर वंचित समुदाय के संघर्षों को पहचान देने वाला ‘दलित’ शब्द के ऊपर आधारित दलित साहित्य महोत्सव देश के विकास, राजनीति, और सामाजिक न्याय में एक सकारात्मक ऊर्जावान पहल है। दलित साहित्य

अन्याय के खिलाफ संघर्षरत उन सभी समुदायों का है जो सत्ताधारियों और सामाजिक कुरीतियों को चुनौती देता हैं।

दलित शब्द के प्रयोग के खिलाफ सरकारी फरमान जारी होने के दौर में डॉ. आनन्द तेलतुम्बडे बताते हैं कि पूर्व में डॉ. अम्बेडकर ने दलित शब्द को दमन और गरीबी के खिलाफ लोगों को एकजुट करने के लिए प्रयोग किया था और इसका स्वरूप जाति-विरोधी, और दमन के खिलाफ रहा था।

आज वर्तमान में उन्हीं स्वरों को हिन्दुत्ववादी और ब्राह्मणवादी समूह जाति के बन्धनों में बाँधकर नाकाम करने में लगे हैं। समाज के अन्तर्विरोध को नकार ऐसे जातिवादी-हिन्दुत्ववादी-पितृसत्तात्मक तत्त्वों को वर्तमान सरकार शुरुआत से संरक्षण देती नजर आ रही है। फिर चाहे गौरक्षा के नाम पर दलित-मुस्लिमों की भीड़ हत्या हो, या ऊना, भीमाकोरे गाँव में हिंसा जैसी घटना हो जहाँ सरेआम ऐसे तत्त्व एक समुदाय विशेष पर हमला करते हैं, या फिर सामाजिक न्याय सुनिश्चित करने की कोशिश करती आरक्षण व्यवस्था का विरोध हो, सरकारें इन सभी में विभिन्न समुदायों को

एक-दूसरे के खिलाफ खड़ा करती नजर आती है।

ऐसे में दलित साहित्य महोत्सव के आयोजन द्वारा दलित समुदाय ऐसे मठों को चुनौती देता दिखाई देता है। आयोजकों के अनुसार इसमें शामिल होने के लिए विभिन्न भाषा-भाषी लेखकों, कवियों, साहित्यकारों, और सामाजिक कार्यकर्ताओं को सम्पर्क किया गया और फलस्वरूप करीब 15 विभिन्न भाषा व संस्कृतियों से लोग इसमें शामिल हुए। देश ही नहीं बल्कि पड़ोसी देश नेपाल के प्रसिद्ध दलित साहित्यकार विश्वोभक्तदुलाल 'आहुति' ने इस पहल का समर्थन किया।

महोत्सव के दौरान दलित साहित्य महोत्सव को परिभाषित करते हुए प्रसिद्ध साहित्यकार मोहनदास नैमिशराय ने कॉर्पोरेट हावी सरकारी साहित्य सम्मेलनों की आलोचना करते हुए कहते हैं कि देश में चल रहे विभिन्न सरकारी साहित्य महोत्सव का आयोजन सिर्फ खानापूर्ति रहा है और वहाँ समाज की संवेदना रखने वाले उपयुक्त वक्ताओं की कमी है। सभी की उन्नति के लिए आवश्यक है अवसर मिलना। दलित साहित्य विलास का साहित्य नहीं बल्कि दलित समुदाय की पीड़ा, प्रखर आवाज, और उनके संघर्षों का साहित्य है। दलित, आदिवासी, पिछड़े वर्ग, घुमन्तू आदिवासी, महिलाओं और अन्य शोषित समुदायों के प्रतिभावों को समाजवाद, बाजारवाद, और ब्राह्मणवाद ने रोक दिया है, जिसका विरोध दलित साहित्यों में मिलता है। दलित साहित्य सिर्फ दलितों का ही नहीं बल्कि उन सभी लोगों का है जो अत्याचारों के खिलाफ एकजुट और संघर्षरत हैं।

'दलित साहित्य, समाज में भेदभाव, जातिवाद खत्म करने का साहित्य है, पुनर्निर्माण का साहित्य है, वह जो सबका हित करें', ऐसा महाराष्ट्र से आये प्रसिद्ध साहित्यकार लक्ष्मण गायकवाड़ का कहना है। वह भेदभाव की पराकाष्ठा बताते हुए यह बतलाते हैं कि जब गाय ब्राह्मणों ने पाली तो उसे देवता का स्थान, और गधा, सूअर दलितों ने पाला तो उसे गाली मिली और उन्हें वंचित कर दिया गया। दलितों को इस लोकतन्त्र परिधि में साहित्यिक भागीदारी के साथ-साथ राजनीतिक भागीदारी भी बढ़ानी होगी। जानवरों और पशुओं को अलग से बजट मिल रहा है लेकिन विमुक्त घुमन्तू समुदायों को ना कोई बजट,

ना उनके लिए कोई कानून बनाए गये। गाय के नाम पर इन्सानों को मारा जा रहा है जिसका विरोध दलित साहित्य करता है।

विकास की गलत अवधारणा के खिलाफ और लोगों के अधिकारों के लिए दशकों से संघर्षरत नर्मदा बचाओ आन्दोलन से आयी मेधा पाटकर ने देश में चल रहे सरकारी दमन और विनाशकारी विकास के बारे में बताते हुए कहती हैं कि वर्तमान भाजपा सरकारें संविधान होने के बावजूद भेदभाव की राजनीति आगे लाकर लोगों के बीच हिंसा और बंटवारा कर रही है। जब संविधान समानता का अधिकार देती है, और देश में जातिगत भेदभाव के खिलाफ कड़े कानून हैं तब यहाँ खुले आम भीड़ हत्या जारी है। किसान, मजदूरों, आदिवासियों की जमीन छीनी जा रही है जिसके खासकर दलित, आदिवासी, और अल्पसंख्यक शिकार बन रहे हैं। दलित साहित्य लोगों की वेदना, उसपर हो रहे जुल्मों को समाज के सामने का कार्य कर रहे हैं और समाज को इसे स्वीकारते हुए साहित्य की कमान सौंपनी चाहिए। दलित साहित्य देश के विकास और राजनीति में एक नयी सकारात्मक दिशा और उर्जा लाती रही है और भविष्य में ऐसा होगा यह हमारा पूरा विश्वास है।

उद्घाटन सत्र के बाद समानान्तर सत्रों में विभिन्न विषयों पर विमर्श महत्वपूर्ण विमर्श से लोग रूबरू हुए। दलित साहित्य के अतीत, वर्तमान और भविष्य, दलित साहित्य आन्दोलन की चुनौतियाँ, दलित साहित्य और मार्क्सवादी साहित्य में अन्तःसम्बन्ध और अन्तर्विरोध, साहित्य में दलित एवं आदिवासी स्त्री की भागीदारी, दलित साहित्यों में स्त्री आन्दोलन, आदिवासी और घुमन्तू समुदाय : साहित्य, समाज और संस्कृति, साहित्य में अल्पसंख्यक विमर्श और भागीदारी, दलित साहित्य में पहचान के सवाल, भारतीय भाषाओं में दलित साहित्य : चुनौती और सम्भावनाएँ, सामाजिक न्याय और जन आन्दोलन, जैसे कई विमर्श महोत्सव के दोनों दिन आकर्षण का केन्द्र बने रहे।

इन्हीं विमर्शों के दौरान हिन्दी के प्रसिद्ध साहित्यकार अब्दुल बिस्मिल्लाह भेदभाव की जड़ें भाषाओं में दिखाते हुए कहते हैं कि यहाँ आपका धर्म देखकर लोग भाषाओं को जोड़ देते हैं जैसे एक समय मुसलमान हिन्दी पढ़ना चाहे या संस्कृत तो उन्हें अलग नजर से देखा

जाता और वही बात उर्दू के साथ हो गयी थी। देश में अन्याय के खिलाफ लड़ते हुए लोगों ने धर्म बदले लेकिन आज भी नये धर्मों में उनकी जाति नहीं बदली। कई लोग कहते हैं मुसलमान मुख्य धारा में नहीं बल्कि मैं मानता हूँ वो मुख्य धारा में लेकिन लोग उन्हें मानना नहीं चाहते। आज इस समाज के लोगों की स्थिति कहीं दलितों से भी बदतर हो गयी है। एक मुसलमान आज इस देश में गाय नहीं पाल सकता ऐसा माहौल बनाया गया है।

'आदिवासियों-दलितों को जल-जंगल-जमीन के संघर्षों से आगे नहीं बढ़ने दिया जा रहा है, सरकार आज भी हमारी जमीनों, जंगलों पर कब्जा कर रही है। पत्थलगढ़ी आन्दोलन में हम देख सकते हैं कि कैसे हमारे स्वशासन के प्रयासों को कुचला जा रहा है, संविधान को भी मानने से इनकार कर रही है सरकार। लेकिन हम एकजुट होकर लड़ेंगे और साहित्य के माध्यम से भी अपनी आवाज मुखर रूप से बुलन्द करते हुए समाज को सही रास्ते पर लाएँगे', झारखण्ड से आये निर्मला पुतुल ने कुछ इन शब्दों में झारखण्ड के संघर्षों को बयान किया।

ऐसा आयोजन देश के दलित संघर्षों और आन्दोलनों से साहित्य के जुड़ाव का एक कदम है जिससे देश, दुनिया और आने वाली पीढ़ियों के सामने समाज में जड़ें बिटाए समस्याओं को दूर करने का रास्ता दिखाई दे सके। कुछ ऐसी ही आशा और संकल्पना के साथ दिल्ली समर्थक समूह से संजीव डांडा ने दलित साहित्य महोत्सव को महत्वपूर्ण बताते हुए इसे आगे ले जाने की दृढ़ता साझा की।

फरवरी का आधा महीना बीत चुका है लेकिन अभी भी इसके बारे में चर्चा जारी है, मशहूर हस्तियाँ इसके अगले आयोजन में जुड़ने की आशा अभी से जता रहे हैं। अगला आयोजन इसके मूल संकल्प और उद्देश्य को आगे ले जाएगा ऐसा सम्भव लगता है क्योंकि जैसा कि महोत्सव ने आशा दिखायी है वैसे ही साहित्य की एक नयी दुनिया सम्भव है और दलित साहित्य इसे रास्ता दिखाएगा। यह विश्वास इनके आयोजकों और इसमें शामिल हुए लोगों, साहित्यकारों, कवियों, सामाजिक कार्यकर्ताओं, और सबसे महत्वपूर्ण आज के युवा और छात्रों में है।

□

गंगा के लिए अनशन पर युवा सन्त

मुद्दा

बसन्त हेतमसरिया

वास्तव में गंगा की सफाई का मुद्दा बहुत तेजी से उठाया गया और उसमें पैसा भी खूब खाया गया यह बात और है कि गंगा साफ नहीं हुई। मुद्दा उठाकर और कुम्भ में आने वाले लोगों को साफ स्वच्छ गंगा का पानी दिखाकर हिंदू वोट लेने की तरकीब जारी है। असलियत यह है कि टिहरी बाँध में बिना पुनर्वास के बाँध भरा गया और प्राप्त सूचना के अनुसार कुम्भ के आसपास के नालों पर मार्च, अप्रैल तक अस्थायी जल संशोधन के प्लांट लगाए गए हैं।



लेखक सामाजिक कार्यकर्ता व एनएपीएम झारखण्ड के संयोजक हैं।
+919934443337
bkhetamsaria@gmail.com



अविरल गंगा : निर्मल गंगा के जिस सवाल को आन्दोलनों ने उठाया, जिसके लिए 111 दिन के उपवास के बाद सरकारी अस्पताल में स्वामी सानन्द की सन्देशास्पद परिस्थितियों में मृत्यु हुई, उसी सवाल को लेकर 26 वर्षीय युवा सन्त आत्मबोधानन्द, 24 अक्टूबर 2018 से शहद, नमक, नीम्बू व पानी लेकर उपवास पर हैं। सन्त आत्मबोधानन्द मूलतः केरल के निवासी हैं और कम्प्यूटर साइंस के छात्र रहे हैं।

19-20 जनवरी को मातृ सदन हरिद्वार में देश भर के गंगा प्रेमियों, पर्यावरण व सामाजिक राजनीतिक कार्यकर्ताओं का जमावड़ा रहा जिसमें मेधा पाटकर जी ने 2 दिन तक शिरकत की। 'जन आन्दोलनों का राष्ट्रीय समन्वय' की 'संविधान सम्मान यात्रा' के लगभग 30 साथी 7 दिसम्बर को भी समर्थन देने मातृ सदन पहुँचे थे जिसके बाद उन्होंने देश भर में विभिन्न जगहों पर समर्थन कार्यक्रम आयोजित किए। समन्वय के सभी साथियों ने प्रधानमंत्री तथा श्री नितिन गडकरी और उत्तराखण्ड के मुख्यमंत्री श्री त्रिवेन्द्र रावत को पत्र भी भेजा। गंगा के इस सवाल पर दिल्ली में 28 जनवरी से जन्तर-मन्तर पर धरना चालू है। शान्तिपूर्ण धरने

के लिए भी पुलिस परमिशन के लिए काफी जद्दोजहद करनी पड़ी। देश-प्रदेश के बड़े सामाजिक कार्यकर्ता, अलग-अलग आन्दोलनों से जुड़े लोग धरने पर लगातार आए। प्रधानमंत्री को भेजे जाने वाले पत्र पर लोगों से हस्ताक्षर लिए जा रहे हैं। सन्त आत्मबोधानन्द के इस उपवास के समर्थन के लिए देशभर में कोशिशें जारी हैं। अलग-अलग क्षेत्रों में काम करने वाले समाज कर्मी, वकील, राजनेता विभिन्न जगहों से धरने पर आ रहे हैं अपनी ओर से पत्र लिख रहे हैं। गंगा को बाँध मुक्त बनाने का प्रश्न बहुत बड़ा है, इसकी समझ बनाना भी बड़ा मुश्किल काम है, बावजूद इसके लोग अपनी तरह से सरकार तक बात पहुँचा रहे हैं।

मैगसेसे पुरस्कार से सम्मानित गाँधी विचारधारा वाले श्री संदीप पांडे, पर्यावरण संरक्षण और मानव अधिकारों के लिए सर्वोच्च न्यायालय से लेकर हर मंच तक में अपनी आवाज उठाने वाले वकील श्री प्रशान्त भूषण, महिला आन्दोलन की सशक्त नेता और वामपन्थी विचारक सुश्री सुभाषिनी अली, राष्ट्रीय गाँधी स्मारक निधि के अध्यक्ष व वयोवृद्ध गाँधी विचारक श्री रामचन्द्र राही जी, खुदाई खिदमतगार

संगठन, किसान सभा के अध्यक्ष श्री हन्नान मौला तथा दिल्ली में दलित साहित्य महोत्सव में आए देश भर के दलित साहित्यकारों ने एक वक्तव्य जारी करके गंगा की स्थिति पर चिन्ता व्यक्त करते हुए युवा सन्त के उपवास को समर्थन दिया। सरकार से अपील किया कि वे तुरन्त उनसे बात करें। गंगा को राष्ट्रीय नदी का दर्जा दिए जाने के बाद भी उसके प्रदूषण मुक्त और बाँध मुक्त ना किए जाने पर महोत्सव के संयोजक संजीव ढांडा ने क्षोभ व्यक्त करते हुए कहा कि सरकार को चाहिए कि चुनाव से पहले वे गंगा के पुनर्जीवन वाले अपने वादे को पूरा करें।

जन्तर मन्तर पर पहुँचे, दिल्ली को प्रदूषण मुक्त रखने के लिए कार्यरत शकील भाई ने कहा कि गंगा ने हम सबको जीवन दिया है, आज उसके जीवन के लिए अपने जीवन को दाँव पर लगाने वाले इस युवा सन्त की माँग का हम पूरी तरह समर्थन करते हैं।

वरिष्ठ पत्रकार अभिलाष खांडेकर और भालू मोघे ने युवा सन्त आत्मबोधानन्द के साहस को जिन्दाबाद कहते हुए अपनी चिन्ता व्यक्त की और सरकार से तुरन्त कदम उठाने की माँग की।

4 दिसम्बर को गायब किए गए सन्त गोपाल दास जी के पिता सहित विभिन्न तबकों के सामान्य जन भी धरने की खबर जानकर अपना समर्थन जताने लगातार धरने पर आ रहे हैं।

युवा सन्त अपने गुरु शिवानन्द जी तथा अन्य साधियों के साथ इलाहाबाद में चल रहे कुम्भ में पहुँचकर वहाँ अपना उपवास जारी रखे हुए हैं। कुम्भ में उनसे मिलने, समर्थन देने लगातार लोग पहुँच रहे हैं, जिसमें राजनेता भी शामिल हैं। समाजवादी पार्टी के सांसद रेवती रमण जी, उत्तराखंड काँग्रेस के पूर्व राज्य अध्यक्ष श्री किशोर उपाध्याय पहुँचे। इलाहाबाद शहर में भी इस पर बैठकें और प्रदर्शन हुए हैं।

समर्थन में देश के अन्य स्थानों में अनशन एवं बैठकें हुईं। उत्तराखंड परिवर्तन पार्टी ने उत्तराखण्ड के कुमाऊँ क्षेत्र के विभिन्न शहरों-गाँवों में समर्थन बैठकों का आयोजन किया। हरिद्वार में हर की पौड़ी पर वरुण बनियान जी के नेतृत्व में युवाओं ने 1 दिन का उपवास रखा। हिमाचल, धर्मशाला में कांगड़ा व अन्य जिलों के नागरिक-सामाजिक संगठनों के तकरीबन 100 प्रतिनिधियों ने पर्यावरणविद् कुलभूषण उपमन्यु, हिम धारा

समूह के सुमित मेहर के साथ गंगा व हिमालय की नदियों के अविरल और निर्मल बहने की मांग को लेकर, एक दिवसीय उपवास और सार्वजनिक बैठक की। पश्चिमी बंगाल में विभिन्न स्थानों पर क्रमिक अनशन और प्रचार कार्य जारी है। गुजरात में पर्यावरण सुरक्षा समिति ने, मुंबई में 'घर बचाओ घर बनाओ' अभियान ने और मध्यप्रदेश में 'नर्मदा बचाओ आन्दोलन' ने पहल की है। बेंगलुरु एवं केरल में भी उपवास और कार्यक्रम हुए हैं। ये कार्यक्रम जारी हैं।

सरकार की ओर से आज की तारीख तक कोई वार्ता नहीं हुई है, जबकि चुनाव निकट है और कुम्भ में इस बात का बहुत प्रचार है कि गंगा बहुत साफ हो गयी। वास्तव में गंगा की सफाई का मुद्दा बहुत तेजी से उठाया गया और उसमें पैसा भी खूब खया गया यह बात और है कि गंगा साफ नहीं हुई।

कौन हैं ये युवा ब्रह्मचारी आत्मबोधानन्द

बड़ी-बड़ी आंखों में चमक, घुंघराले बाल, गहरा साँवला रंग, सादे से सफेद कपड़े पहने 26 वर्षीय युवक, स्वामी सानन्द से प्रेरित हो गंगा संरक्षण के लिए तथा गंगा की अविरल निर्मल प्रवाह के लिए उपवास पर है। वे नमक, नींबू, जल और शहद लेते हैं। आवश्यकता पड़ने पर दवा भी लेंगे क्योंकि वे सानन्द जी की परंपरा पर ही उपवास में बैठे हैं। उनके शब्दों में यह संकल्प तपस्या है। उपवास के दौरान ब्रह्मचारी अबोधानन्द जी को जब डॉ. सरकारी डॉक्टर चेक अप करने आये, तो समझाने लगे कि तपस्या, उपवास सही नहीं है। अबोधानन्द जी ने उनको अंगेजी में लिखे प्रश्नों की सूची दी और कहा कि इनका जवाब दीजिए उसके बाद ही आप चेक कीजिएगा। डॉ. साहेब निरुत्तर हो गए। मगर प्रशासन ने फिर भी जबरदस्ती की। मातृ सदन से उठाकर अस्पताल में जबरदस्ती दाखिल भी किया, मगर जब हालत बिगड़ी तो अपनी जिम्मेदारी पर वे वापस आश्रम आ गये। उनकी तपस्या गंगा किनारे आज भी जारी है।

ब्रह्मचारी निगमानन्द जी व स्वामी सानन्द जी के बलिदान से प्रभावित इस युवक की आंखों की चमक हृदय को भेद देती है। जैसे आप से पूछ रहे हों कि आप गंगा के लिए क्या कर रहे हैं?

चार साल पूर्व मातृसदन के परम पूजनीय गुरुदेव स्वामी शिवानन्द जी महाराज से दीक्षा ग्रहण कर के इन्होंने ब्रह्मचारी आत्मबोधानन्द के नाम से सन्यास आश्रम में प्रवेश किया। केरल से कम्प्यूटर साइंस में स्नातक के चौथे सेमिस्टर तक अध्ययन कर के जीवन का सार अध्यात्म में पाकर पढाई अधूरी छोड़कर मुक्ति की राह पर चल पड़े और दक्षिण से उत्तर में बद्रीनाथ धाम तक की यात्रा की। यात्रा के दौरान माँ गंगा की दयनीय दशा देख कर दुखित हुए।

उन्हें क्या मालूम था कि प्रकृति ने आने वाले समय में गंगा के लिए उन्हें ही चुना था। इसी क्रम में श्री गुरुदेव से भेंट भी अप्रत्याशित थी। इसकी रोचक कथा है। उत्तराखण्ड में बद्रीनाथ पहुँचने पर उनको एक साधु मिले जिन्होंने कहा कि मंदिर जाने वाले इसी रास्ते पर इन्तजार करो, जो भी पहला व्यक्ति दिखेगा, वही तुम्हारा गुरु होगा। उस सुनसान रास्ते का बहुत ही कम प्रयोग होता था। उन दिनों श्री गुरुदेव बद्रीनाथ आश्रम में थे और प्रतिदिन आश्रम से मंदिर पैदल जाया करते थे। घटना के दिन बरसात के कारण रास्ता अवरुद्ध हो गया तो इन्होंने दूसरा रास्ता जिस पर आत्मबोधानन्द जी थे, पकड़ लिया। इस प्रकार गुरु शिष्य की दिव्य भेंट हुई।

मातृसदन आश्रम में गंगा जी के बारे में जाना, स्वामी निगमानन्द जी के बलिदान के बारे में जाना। आत्मबोधानन्द जी ने पैदल बद्रीनाथ यात्रा की उनके पास कोई गर्म कपड़ा तक नहीं था किन्तु प्रकृति ने उनकी परीक्षा लेते हुए सब उपलब्ध करवाया।

हरिद्वार में गंगा पर खनन के खिलाफ वे जिलाधीश हरिद्वार के सामने खड़े हुए। जिस पर कथित रूप से जिलाधीश ने स्वयं उन पर हमला किया। यह सभी न्यायालय के विचाराधीन है। मातृ सदन की आन्दोलनात्मक परम्परा के कर्मठ सिपाही हैं। उनका कहना है कि वे एक संन्यासी हैं और गंगा के लिए उपवास तो कर ही सकते हैं लोगों को मेरी नहीं गंगा की चिन्ता करनी चाहिए।

मातृ सदन के सत्याग्रही ब्रह्मचारी आत्मबोधानन्द जी का ये दसवाँ अनशन है। इसके पहले भी लगातार हरिद्वार के कुम्भ क्षेत्र में खनन और कुम्भ क्षेत्र का विस्तार को लेकर अनशन करते रहे हैं। इसमें प्रशासन के साथ सीधा आमना-सामना लगातार होता रहा। मातृ

सदन के द्वारा अदालतों से प्राप्त आदेशों के अनुपालन तक के लिए उन्होंने उपवास किये। मातृ सदन की परम्परा गंगा के हित में आन्दोलनकारी की रही है। जिस का निर्वाह उन्होंने अपने इन उपवासों में किया और अब वह बड़ी कठिन परीक्षा से गुजर रहे हैं जब उनके उपवास को 100 दिन से भी ज्यादा हो गये हैं।

उनका पहला अनशन 14 दिन, दूसरा 21 दिन, तीसरा 22 दिन, चौथा 23 दिन, पाँचवा 10 दिन, छठा 33 दिन, सातवाँ 23 दिन आठवाँ 11 दिन, नवाँ 47 दिन और वर्तमान में दसवाँ अनशन जो सानन्द जी के निधन के बाद उन्होंने 24 अक्टूबर 2018 से शुरू किया, 100 दिन से ऊपर हो गये हैं।

उनकी मांग स्वामी सानन्द जी के संकल्प की पूर्ति यानी गंगा को अविरल और निर्मल रखने की है जिसमें फिलहाल मुख्य मांग है कि गंगा पर निर्माणाधीन सिंगोली-भटवारी, तपोवन-विष्णुगाड और विष्णुगाड-पीपलकोटी बाँधों को रोक दिया जाए।

प्रश्न उठ सकता है उपवास पर, उपवास के निर्णय लेने पर। मगर आप इस युवा सन्त के संकल्प, उसकी दृढ़ता और गंगा के प्रति उसकी समझ को चुनौती नहीं दे सकते। सीधी सरल माँग के साथ, गंगा की निर्मल अटूट धारा की तरह वह भी अपने रास्ते पर चल रहे हैं।

क्या आप गंगा से सिर्फ अपने पाप धोने, बिजली लेने या उसकी छाती पर जहाज चलाने जैसे फायदे ही लेते रहेंगे? क्या हमारे पूर्वजों ने हमें ऐसी गंगा दी थी? क्या हम गंगा के प्रति अपना कोई कर्तव्य भी मानते हैं? यदि मानते हैं और आने वाली पीढ़ी को निर्मल अविरल गंगा देना चाहते हैं तो आइए इस कठिन दौर में साथ जुड़िये। गंगा की चिन्ता कीजिए। इस युवा सन्त की चिन्ता में अपनी चिन्ता जोड़िए। सरकार को इन माँगों को सुनने के लिए मजबूर कीजिए। सरकार को पत्र लिखिए। धरना, प्रदर्शन, सांकेतिक उपवास, मानव श्रृंखला और जो भी संवैधानिक दायरे में हमारे सत्याग्रह के अधिकार हैं उनका उपयोग करें। हम गंगा के प्रति अपने कर्तव्य का निर्वाह करेंगे तो अविरल-निर्मल बहती गंगा युवा सन्त आत्मबोधानन्द जी की भी चिन्ता कर लेगी। आइए जुड़िए।

(सहयोग एन.ए.पी.एम. टीम)

□

संकटग्रस्त दुनिया को गाँधीजी की जरूरत



भारत डोगरा

महानता की एक बड़ी कसौटी यह है कि विश्व की बुनियादी समस्याओं के समाधान में किसी व्यक्ति के जीवन व विचारों की कितनी उपयोगिता देर तक बनी रहती है। इस दृष्टि से देखें तो महात्मा गाँधी के विचार इक्कीसवीं शताब्दी के बड़े सवालों से जुझने के लिए आज भी बहुत प्रासंगिक नजर आ रहे हैं और विश्वस्तर पर उनकी चर्चा है।

महात्मा गाँधी के अपने जीवनकाल में यह स्थिति व सोच सामने नहीं आयी थी कि एक दिन धरती की जीवनदायिनी क्षमताएँ भी खतरे में पड़ सकती हैं। पर आज 21 वीं शताब्दी के आरंभिक दशकों में यह स्थिति ही विश्व की सबसे गम्भीर चुनौती के रूप में सामने आ रही है। इस तेजी से उभरती स्थिति में गाँधीजी की समग्र सोच पहले से और भी अधिक प्रासंगिक हो गयी है। धरती की जीवनदायिनी क्षमता खतरे में पड़ने के दो मुख्यपक्ष हैं। इन दोनों संदर्भों में ही समाधान प्राप्त करने के लिए गाँधीजी की सोच बहुत सार्थक, उपयोगी, मौलिक व मूल्यवान है।

धरती की जीवनदायिनी क्षमता के संकटग्रस्त होने का पहला पक्ष यह है कि प्रकृति के प्रति आधिपत्य का सम्बन्ध रखने, प्राकृतिक संसाधनों (विशेषकर जीवाष्म ईंधन व वनसम्पदा) का अत्यधिक दोहन करने के कारण आज ऐसे अनेक पर्यावरणीय संकट उत्पन्न हो गये हैं जो धरती पर तरह-तरह के जीवन के पनपने की मूलस्थितियों को ही संकट में डालते हैं। इसमें जलवायु बदलाव का संकट, जल संकट, वायुप्रदूषण, समुद्रों का प्रदूषण, जैव-विविधता का तेज हास अधिक चर्चित हैं, पर इतने ही अन्य गम्भीर संकट भी हैं जो अभी चर्चा में कम ही आए हैं।

इन सभी संकटों के अपने-अपने विशिष्ट कारण व समाधान भी हैं, पर किसी-न-किसी स्तर पर इनका एक सामान्य कारक यह रहा है यह प्रकृति व प्राकृतिक संसाधनों के अत्यधिक दोहन से जुड़े हैं व इसके लिए अनियंत्रित उपयोग, भोग-विलास व उपभोक्तावाद जिम्मेदार हैं। टालस्टॉय जैसे कुछ अन्य आधुनिक विचारकों के साथ महात्मा गाँधी ने बुनियादी तौर पर सादगी और सादगी आधारित सन्तोष को एक अति महत्वपूर्ण जीवन-मूल्य के रूप में प्रतिष्ठित किया। गाँधीजी की सादगी की सोच अपने ऊपर बहुत परेशानी से नियन्त्रण रखने में नहीं है, अपितु एक सहज, स्वाभाविक सोच है जो आसानी से सन्तोष व बन्धनमुक्ति के अहसास की ओर ले जाती है। इस सोच की सही समझ बने तो अधिक लोगों द्वारा अपनाई जा सकती है।

जीवनदायिनी क्षमता के संकट में पड़ने की दूसरी वजह युद्ध व अति-विनाशक हथियार हैं। इस सन्दर्भ में गाँधीजी की सोच तो और भी महत्वपूर्ण है क्योंकि उन्होंने हिंसा को मूलतः जीवन के हर एक पक्ष से हटाने के लिए कहा था। युद्ध और हथियारों की दौड़ कितने विनाशक हो चुके हैं, हर कोई जानता है पर उनका नियन्त्रण नहीं हो पा रहा है क्योंकि समाज में ऊपर से नीचे तक हिंसा की सोच जगह-जगह हावी है। इस हिंसा की सोच को जीवन के हर पक्ष से हटाने का एक बड़ा जन-आन्दोलन विश्वस्तर पर मजबूत होना चाहिए। नीचे से ऊपर तक लोगों की आवाज हर तरह की हिंसा दूर करने के लिए पहुँचेंगी तो इससे युद्ध, हथियारों की दौड़, महाविनाशक हथियारों पर रोक लगवाने में बहुत मदद मिलेगी।

धरती की जीवनदायिनी क्षमताओं को बचाने का प्रयास इक्कीसवीं शताब्दी का सबसे सार्थक और जरूरी प्रयास है और इसे लोकतन्त्र व न्याय की सोच के दायरे में ही प्राप्त करना है। इस प्रयास में विचारों का योगदान बहुत महत्वपूर्ण है। इन विचारों के संघर्ष में गाँधीजी की सोच बहुत महत्वपूर्ण सिद्ध होगी।

गाँधीजी के जीवनकाल में पूँजीवाद और साम्यवाद का टकराव चर्चा में था। उनमें यह वैचारिक साहस था कि उन्होंने इन दोनों व्यवस्थाओं से अलग अपने मौलिक विचारों को सामने रखा। उन्होंने धार्मिक कटरता, तरह-तरह के भेदभाव, उन पर आधारित वैमनस्य को पूरी तरह नकारा। उनके विचारों की बुनियाद पर न्याय व सद्भावना आधारित ऐसी व्यवस्था बन सकती है जिसमें इक्कीसवीं शताब्दी की बड़ी चुनौतियों का सामना करने के लिए लोग व्यापक एकता व एकजुटता से, गहरी निष्ठा व सहयोग से प्रयासरत हो सकें।

सबकी जरूरतों को पूरा करने वाली अर्थव्यवस्था, पर्यावरण की रक्षा व अमन-शान्ति के तीन प्रमुख उद्देश्यों में नजदीकी अन्तर्सम्बन्ध है। इसे पहचानने व इस आधार पर एक समग्र सोच स्थापित करने की जरूरत है जिससे इन तीनों उद्देश्यों की राह पर एक-साथ आगे बढ़ा जा सके। गाँधीजी की सोच में यह समग्रता मिलती है। यह मौजूदा कठिन दौर के लिए बहुत मूल्यवान है। (सप्रेम)

(लेखक गाँधीवादी चिन्तक हैं।)

स्त्री-विमर्श और मीराकान्त का 'नेपथ्य राग'

वसुंधरा शर्मा

विवाह संस्था में रहते हुए एक स्त्री शीर्ष स्थान पर अपनी जगह बनाना चाहती है, तो उसे उम्र के उन पड़ावों तक प्रतीक्षा करनी पड़ती है, जब तक बच्चे बड़े न हो जाएँ और वह परिवार के लिए फालतू न हो जाए। भारतीय समाज की परम्परा में स्त्री की पहचान बहन, पत्नी, माँ, बेटा आदि रूपों में है उसकी अपनी कोई निजी पहचान नहीं है। मीराकान्त के सभी नाटकों की स्त्री अपनी एक निजी पहचान चाहती है।



लेखिका कर्नाटक विश्वविद्यालय में पी-एच.डी. शोधार्थी हैं।
+919108972053
vasundharaplacid@gmail.com



पश्चिम के ज्ञानोदय ने वंचित, उपेक्षित, उत्पीड़ित तबकों में चेतना का संचार किया, फलतः समाज राजनीति साहित्य एवं कला क्षेत्रों में कई अस्मिताओं का उदय हुआ दलित, आदिवासी, अल्पसंख्यक एवं अश्वेत वर्ग अपने-अपने अधिकारों और अस्मिता को पुनर्जीवित करने के लिए सक्रिय हुए। दुनिया की जनसंख्या का आधा भाग अर्थात् 'स्त्री' सदियों से 'पुरुष-सत्तात्मक समाज' में उपेक्षित और प्रताड़ित रही है। ज्ञानोदय की चेतना ने 'स्त्री-अस्मिता' के प्रश्नों को 'स्त्री-समाज' में कुरेदा और स्त्रियाँ अपने अस्तित्व और स्वर्जों को साकार करने के लिए जीवित समाजों में आत्मसम्मान से अपना सर उठाने लगीं। परिणामस्वरूप साहित्य समाज राजनीति और कला-क्षेत्रों में 'स्त्री-विमर्श' का प्रारंभ हुआ। 'स्त्री-विमर्श' से तात्पर्य है-समाज में स्त्रियों को केंद्रीय परिधि में लाना। स्त्री को उसकी अस्मिता का ज्ञान कराना, चाहे वह सामाजिक स्तर पर हो, आर्थिक या राजनीतिक स्तर पर। ताकि स्त्री को उसके 'स्व की अनुभूति हो, वह अपनी' अस्मिता और अपने होने का अर्थ समाज में सार्थक कर सके।

स्त्री को 'पुरुष वर्चस्ववाद या पुरुष सत्तात्मक समाज की पराधीन वस्तु माना गया और उसे पुरुष का उपनिवेश घोषित किया गया। सामाजिक-राजनीतिक व्यवस्था और जीवन में यह स्थिति केवल और केवल गुलामी की थी। समाज में प्रायः स्त्री को अपने अधिकारों और अस्मिताओं को खोजना-मैं क्या हूँ? परिवार, समाज और राजनीतिक व्यवस्था में मेरा क्या स्थान है? मैं क्या चाहती हूँ? मुझे क्या चाहिए। ये सभी प्रश्न स्त्री-विमर्श के सन्दर्भ में प्रश्न खड़ा करते हैं।

'मीराकान्त' 21वीं सदी के दौर में अपनी रचनाओं के माध्यम से वर्तमान समाज में स्त्री को नेपथ्य के माध्यम से समाज के सामने खड़ा करती है और पुरुष-सत्तात्मक समाज में प्रश्न-चिह्न लगाती हैं। मीराकान्त हाशिये पर पड़ी स्त्री को केन्द्र में लाकर मंच पर स्थापित करना चाहती हैं।

पितृ सत्तात्मक समाज में स्त्री की आजादी अस्मिता और निजी पहचान के प्रश्नों से जुड़ता हुआ 'नेपथ्य राग' नाटक आधुनिक परिवेश में कथावाचन शैली में प्रारम्भ होता है जहाँ एक ओर 'इक्कीसवीं सदी' की पढ़ी-लिखी

और काम काजी स्त्री 'मेघा' है जो अपने दफतर के पुरुष सहकर्मियों से सहयोग न मिलने के कारण परेशान है तो दूसरी ओर चौथी-पाँचवी शती की विलक्षण बुद्धि वाली ज्योतिष विधा में निपुण ग्रामबाला खना है जो पुरुष समाज के बीच अपनी उपस्थिति दर्ज करवाने के लिए संघर्षरत है। 'नेपथ्य राग' का संसार जिन छवियों से निर्मित हुआ है। वह इतिहास, वर्तमान और भविष्य तक विस्तार देता है। "प्रतिभाशाली स्त्री के दुखद अन्त के दर्द व चुभन को शब्द देना नाटककार का उद्देश्य है। नाटक की कथावस्तु चौथी-पाँचवी शताब्दी की 'खना' की पीड़ा से इक्कीस्वी सदी की मेघा' की वेदना तक विस्तार पाती है क्योंकि उसके मूल में एक ही विचारधारा काम कर रही है- वैचारिक आभिव्यक्ति से रहित स्त्री ही समाज को स्वीकार्य रही है।

खना ने आचार्य वराह मिहिर से ज्योतिष विधा सीखकर तो पायी थी लेकिन इस कार्य के लिए उसकी मेहनत, लगन को नहीं सराहा गया। (सम्भवतः) किसी पुरुष ने ऐसा किया होता तो वह इतिहास पुरुष बन जाता। नाटक की आधुनिक पात्र माँ अपनी बेटी मेघा को यह बताते हुए, कि पुरुष प्रधान समाज में स्त्री की योग्यता को कैसे नकारा जाता है कहती है 'कहा गया कि रवना ने वराह मिहिर द्वारा तैयार किया गया ज्योतिषमति तेल पी लिया' या "रवना ने प्रसिद्धि तो पाई लेकिन पुरुष समाज जो उस प्रसिद्धि पर अपना एकाधिकार चाहता है, वह कैसे सहन कर पाता? उसके ज्ञान उसकी प्रसिद्धि को वे लोग कहाँ पचा पाये जो हमेशा से उस दुनिया को हथियारा बैठे थे।"

"खना : (चरण नहीं छोड़ती। केवल इतना ही?)

वराह मिहिर: (नीचे रवना की ओर देखते हैं) शून्य ललाट पर शीघ्र किसी के अनुराग का सौभाग्य-चिन्ह दिखाई दे।

खना : (अपर को देखकर) बस इतना ही गुरूवर?

वराह मिहिर : (मुस्काराते हुए) केवल इतने से सन्तोष नहीं है तो चलो आज तुम्हें यह आशीष देते हैं कि किसी कुलीन सभान्त श्रीमन्त के घर की कुल लक्ष्मी बनो।

खना : (चरण छोड़ उठती है। फिर हाथ

जोड़कर) मुझे आश्रय चाहिए ज्ञान का आश्रय आपका आक्षय ज्ञानमार्गी होने का वरदान दीजिए।

विक्रमादित्य जब रवना को सभासद बनाना चाहते हैं, तो उसके विवाहिता हाने के कारण स्वयं भी चिन्तित है, कि कोई इसे स्वीकार करेगा या नहीं। विवाह संस्था में रहते हुए एक स्त्री शीर्ष स्थान पर अपनी जगह बनाना चाहती है, तो उसे उम्र के उन पड़ावों तक प्रतीक्षा करनी पड़ती है, जब तक बच्चे बड़े न हो जाएँ और वह परिवार के लिए फालतू न हो जाए।

भारतीय समाज की परम्परा में स्त्री की पहचान बहन, पत्नी, माँ, बेटी आदि रूपों में है उसकी अपनी कोई निजी पहचान नहीं है। मीराकात के सभी नाटकों की स्त्री अपनी एक निजी पहचान चाहती है। चाहे वह ईहामृग की 'सिक्त छाया' और स्नेहगघा हो या फिर नेपथ्य राग' की रवना और मेघा हो, लेखिका ने स्त्री की अस्मिता के संघर्ष को कही टूटने नहीं दिया। गिरीश रस्तोगी के अनुसार 'नेपथ्य राग' नाटक का वातावरण आरभ से ही बौद्धिक और सेवदानात्मक टकराहट का है।

"खना : (उदास स्वर में) क्या भविष्यवाणी और क्या ज्योतिष बन्धु काका हमने क्या सोचा था परन्तु

सुबन्धु : (जिज्ञासापूर्वक) क्या सोचा था?

खना : यही कि ज्योतिषविद के परिवार में जा रही हूँ लगा था निरन्तर नवग्रहों के सान्निध्य में रहूँगी नक्षत्रों से बातें करूँगी पृथ्वी और आकाश का अन्तराल नापूँगी परन्तु

सुबन्धु : क्या हुआ तुम सुखी तो हो?

खना : पृथुयशस की पत्नी और आचार्य वराह मिहिर की पुत्र वधू के रूप में तो हूँ परन्तु पता नहीं काका कभी-कभी ऐसा प्रतीत होता है कि रवना कही खोती जा रही (अचानक पलटकर) क्या रवना खो जाएगी।

दूसरी ओर आधुनिक पात्र मेघा जो अफसर है जो इस पुरुष प्रधान समाज में अपनी अस्मिता को चूर-चूर होते देखती है तो अपनी माँ से कहती है-ममा मन में एक घुटन सी होती है। समझ में नहीं आता क्या करूँ। वस्तुतः पुरुष की मानसिकता ने उसकी अस्मिता को हमेशा झुलसाने का प्रयास किया है।

स्त्री-विमर्श के विभिन्न पहलुओं को

छूता हुआ यह नाटक कोई बँधा-बँधाया समाधान तो प्रस्तुत नहीं करता लेकिन सोचने के लिए विवश अवश्य करता है कि क्या स्त्री की स्थिति कभी नहीं सुधरेगी? नाटक का कथ्य विशेष वर्ग की स्त्री तक सीमित नहीं बल्कि एक सामान्य स्त्री आसपास की जिन्दगी से ली गयी स्त्री के दुख-दर्द का प्रतिनिधित्व करता है मीराकान्त समाज में 'स्त्री-पुरुष' की असमान स्थिति को उजागर कर रही है। सारे अधिकार पुरुष के नियन्त्रण में हैं और स्त्री मात्र उसकी एक दासी बनकर रह जाती है। उसे 'देवी' तो बनाया जाता है परन्तु एक मनुष्य के रूप में नहीं देखा जाता। स्त्री की पहचान उसकी देह के आधार पर की जाती है। जैविक संरचना के आधार पर ही 'स्त्री-पुरुष' में भिन्नता प्रकट हो ऐसा जरूरी नहीं बल्कि स्त्री को पुरुषों द्वारा तय की गयी स्त्री की छवि के रूप में देखना 'पितृसत्तात्मक' व्यवस्था की देन है, यही दृष्टिकोण विभेद पैदा करता है।

मीराकान्त का सृजनशील मन वर्तमान समाज की बहसों में शामिल भी होता है और उन पर गहराई से विचार-विमर्श करके उसे सही रचनात्मक दिशा की देता है। एक स्त्री होने के नाते स्त्रियों के प्रश्नों-स्थितियों-विसंगतियों, समाज व शासन तन्त्र का उनके प्रति व्यवहार कुल मिलाकर समाज की नींव में बहुत गहरे तक बैठे पितृसत्तात्मक व्यवस्था की वास्तविकता पर सदियों से छाये घटाटोप को हटाकर सच्चाई की पहचान करवाती है स्त्रियों के खिलाफ बनाये गये मूल्यों, वर्जनाओं मापदण्डों पर सवालिया निशान लगाती हैं जो स्त्री को हमेशा अस्तित्वहीन, अस्मिताविहीन एक सुन्दर हाड़-मांस के पुतले की छवि प्रदान करता है।

मीराकान्त वस्तुतः समाज में 'स्त्री-पुरुष' की असमान स्थिति को ही उजागर करती हैं। जहाँ सारे अधिकार पुरुष के नियन्त्रण में हैं। स्त्री मात्र उसकी एक दासी बनकर रह जाती है उसे 'देवी' तो बनाया जा सकता है परन्तु एक मनुष्य के रूप में नहीं देखा जाता। स्त्री की पहचान उसकी देह के आधार पर की जाती है। एक विवाहिता स्त्री अगर ज्ञान प्राप्त करना चाहे व अपने व्यक्तित्व विकास के लिए कुछ करना चाहे तो यह डगर बहुत कठिन और काँटों से भरी है।

□

हिन्दी रंगमंच में फुले-अम्बेडकरवादी विचारधारा

राजेश कुमार

फुले ने वर्ष 1855 में 'तृतीय रत्न' नाटक लिखा था। यह नाटक भले मराठी भाषा में लिखा गया हो, लेकिन इसका जो कथ्य-फॉर्म-तकनीक है, समय और समाज के साथ उसका जो सरोकार है, उस पर केवल मराठी रंगमंच को ही नहीं, भारतीय रंगमंच को भी विश्लेषण करने की जरूरत है।

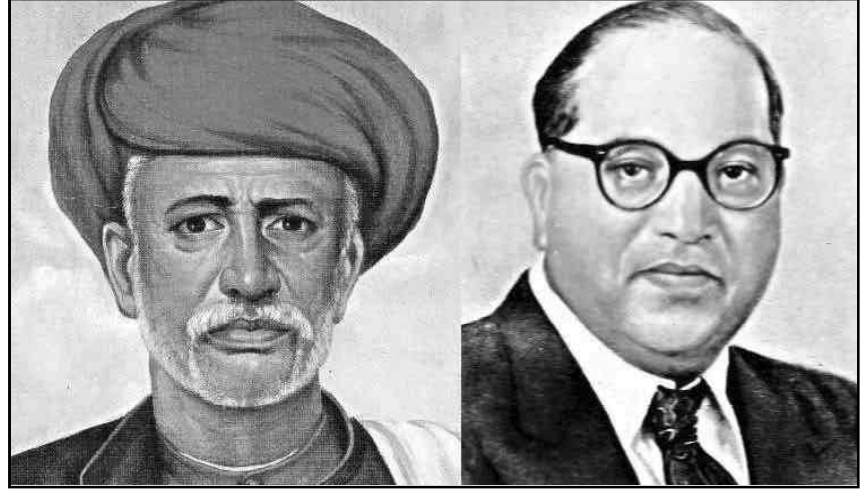
जिस काल में इस नाटक का सृजन हुआ है, उस परिपेक्ष्य में समाज और राजनीति के बदलते हुए परिदृश्य को देखने की आवश्यकता है। लेकिन अफसोस कि बात ये है कि इस नाटक के प्रति हिन्दी रंगमंच के आलोचना संसार में गहरी उदासीनता है।



लेखक धारा के विरुद्ध चलकर भारतीय रंगमंच को संघर्ष के मोर्चे पर लाने वाले अभिनेता, निर्देशक और नाटककार जो हाशिये के लोगों के पुरजोर समर्थक हैं।

+919453737307

rajeshkr1101@gmail.com



फुले ने वर्ष 1855 में 'तृतीय रत्न' नाटक लिखा था। फुले के इस नाटक पर गौर फरमाना क्यों नहीं जरूरी समझा गया? क्या जानबूझकर उपेक्षित रखा गया क्योंकि यह नाटक ब्राह्मणवाद पर सीधा चोट कर रहा है? सन 1853 में बम्बई में दो ही थिएटर का अस्तित्व इतिहास में देखने को मिलता है। एक नाट्यशाला ग्राण्ट रोड पर था जिसे 'ग्राण्ट रोड थिएटर' कहा जाता था, दूसरा 'खेतवाड़ी थिएटर' था जो सम्भवतः खुला थिएटर था, जिसमें लोकधर्मी परम्परा की शैली द्वारा नाटक अभिनीत हुआ करते थे। 'बॉम्बे टेलीग्राफ एंड कोरियर' के 27 एवं 31 अक्टूबर 1853 के अंकों से पता चलता है कि बम्बई में इन्हीं दिनों एक 'पारसी ड्रामेटिक कोर' का जन्म हुआ और उसमें गुजराती भाषा में एक नाटक का अभिनय ग्राण्ट रोड थिएटर में किया जिसका शीर्षक था 'रुस्तम जबोली और सोहराब'। नाटक के क्षेत्र में प्रमुख रूप से पारसी व्यवसायियों के आने से जिस तरह का देश भर में रंगमंच देखने को मिलता है, वो पारसी थिएटर के नाम से जाना गया। किसी रंगमंचीय अवधारणा

के तहत इसका जन्म नहीं हुआ था, बल्कि सन 1776 में अस्तित्व में आये 'बम्बई थिएटर' जहाँ अँग्रेजों के मनोरंजन के लिए अक्सर इंग्लैंड से आये घुमन्तू मण्डलियों या शौकिया अँग्रेजों द्वारा इंग्लिश ड्रामा हुआ करते थे, प्रेरणास्रोत थे। सन 1846 तक आते-आते जहाँ एक तरफ इंग्लैंड से आकर इंग्लिश ड्रामा के मंचन का प्रचलन आर्थिक रूप से फायदेमन्द न होने के कारण भले धीमा पड़ गया हो, लेकिन पारसी समुदाय के व्यवसायियों को इस मनोरंजन में वृहद सम्भावना नजर आयी। देश भर के मुख्य शहरों को आधार बनाकर पहले अँग्रेजी नाटकों फिर अरबी-ईरानी कहानियों को नाटक में ढाल कर व्यावसायिक रूप से मंचन करने लगी। चूँकि इसके दर्शक ज्यादातर शहरी होते थे इसलिए उनके लिए लाजिमी था कि नाटकों में वही दिखाया जाए जो वे चाहते थे। यही कारण था कि पारसी थिएटर की जो यात्रा शेक्सपियर के नाटकों से शुरू हुई थी, कुछ ही वर्षों के अन्तराल में भारतीय मिथकों व ऐतिहासिक-धार्मिक गौरव गाथाओं के इर्द-गिर्द घूमने लगी।

लेकिन इसके बरक्स जो नाट्यधारा लोक में व्याप्त थी और जिसकी चर्चा करने, अभिलेख करने में मुख्यधारा के कलमकार जरा संकोच करते हैं, उनकी एक बानगी देखनी है तो पारसी थिएटर के अस्तित्व में आने के दो वर्ष के बाद ही फुले का लिखा नाटक 'तृतीय रत्न' पर नजर गड़ाने की जरूरत है। फुले के इस नाटक पर न पाश्चात्य रंगमंच का प्रभाव था, न पारसी थिएटर की तरह किसी तरह की व्यावसायिक प्रमुखता। यह नाटक लोक के बीच लोकप्रिय 'खेतवाड़ी थिएटर' के करीब का था जिसके प्रदर्शनों में 'बम्बई थिएटर' की तरह केवल अँग्रेजों के प्रवेश की अनुमति नहीं होती थी, न 'पारसी थिएटर' की तरह शुल्क देय जैसी कोई औपचारिकता। किसी भी जाति और वर्ग के लोग नाटक देख सकते थे। फुले का यह नाटक जन सामान्य के बीच से निकला था। यह विदित है, फुले का जो कार्य स्थल था वो पुणे का था और यह शहर पेशवाओं का भी था जहाँ अस्पृश्य समाज के साथ इन्होंने अतीत में तरह-तरह के अमानवीय बर्ताव किये थे। अँग्रेजों के आने के बाद भले पेशवाओं का राज समाप्त हो गया, लेकिन हिन्दू समाज में जो वर्णव्यवस्था थी, वो बरकरार थी। ब्राह्मणवादी परम्परा खत्म न होने के कारण समाज में छुआ-छूत, अन्ध विश्वास, कट्टरता यथावत थी।

फुले के 'तृतीय रत्न' नाटक का कथ्य उनदिनों के पारसी थिएटर तर्ज पर आयातित नहीं था। जिस आन्दोलन से जुड़े थे, उसी के बीच से निकला हुआ था। दलितों-स्त्रियों को शिक्षा मुहैया कराने के वे जबरदस्त हिमायती थे। इस मिशन में उनकी पत्नी सावित्री बाई फुले भी कन्धे से कन्धा मिलाकर कार्यरत थी। ब्राह्मण समाज से इसका काफी विरोध भी हुआ, पर इन्होंने हार नहीं मानी। 'सत्यशोधक समाज' का गठन कर एक वृहद सामाजिक-सांस्कृतिक आन्दोलन खड़ा किया। उनके नाटकों का तत्कालीन रंगमंच, विशेषकर लोक में निहित नाट्यशैलियों पर विशेष प्रभाव डाला। लोक मंचों पर पहले हल्के-फुल्के जो हास्य प्रधान नाटक होते थे, धार्मिकता पर जोर होता था, अब उसका स्वर बदल कर आलोचनात्मक होने लगा। फुले ने 'गुलामगीरी', 'किसान का कोड़ा' और 'सत्सार' के माध्यम से हिन्दू धर्म

के परम्परागत मिथकों की जो चीर फाड़ की, नये सन्दर्भों में जिस तरह विश्लेषित किया, उसका असर तत्काल विभिन्न भाषाओं के रंगमंच पर दिख गया। लोक रंगमंच पर पहले दिखा पर पारसी या हिन्दी रंगमंच पर कुछ वर्षों के अन्तराल के बाद। सन 1855 में फुले ने 'तृतीय रत्न' से जो लोक नाटक के माध्यम से रंगयात्रा की शुरुआत की थी, कुछ ही वर्षों के बाद उनकी तलाश उससे भी आगे की होने लगी कि कैसे आम लोगों के और करीब पहुँचा जाय। शायद इसी तलाश के कारण सन 1873 में 'गुलामगीरी' और सन 1885 में 'सत्सार' का लेखन किया। नाटक का जो पारम्परिक रूप होता है, ये कृतियाँ उस प्रारूप में नहीं हैं। पन्द्रह परिच्छेदों में लिखा 'गुलामगीरी' में धोन्डी राव और ज्योति राव का संवाद है जिसमें ब्राह्मणवादी धर्म की छत्रछाया में जो गुलामगीरी फल-फूल रही थी, उसका निर्मम ढंग से पर्दाफाश किया गया है। फुले का मानना था कि जो व्यवस्था अमानवीय है, शोषण पर आधारित है, मानवीय मूल्यों के विरुद्ध है, उसको बदलना जरूरी है। ब्राह्मणों ने हिन्दू मिथकों, पुराण कथाओं के माध्यम से आम लोगों के बीच भाग्यवाद, यथास्थितिवाद की जड़ को मजबूत किया है, उसे तर्क द्वारा नंगा करना जरूरी है। इसके लिए उन्होंने उसी भाषा का इस्तेमाल किया जो आम लोग इस्तेमाल करते हैं। जैसे बुद्ध ने अपने धम्मोपदेश को लोगों तक पहुँचाने के लिए पालि (मागधी) अपनायी थी। फुले ने 'तृतीय रत्न' में कलाकारों और दर्शकों के बीच संवाद बनाये रखने के लिए विदूषक का जिस तरह इस्तेमाल किया था, उसका तत्काल प्रभाव 'खेतवाड़ी थिएटर' में देखने को मिलता है। 'तृतीय रत्न' नाटक प्रारम्भ होते ही विदूषक की उपस्थिति मंच पर हो जाती है। और नाटक के अन्त तक लगभग सभी दृश्यों में मंच पर विद्यमान रहता है। चल रहे दृश्यों के बीच जब भी मन करता दाखिल हो जाता है। सीधे दर्शकों से मुखातिब होने से भी परहेज नहीं करता है। पात्रों पर टिप्पणी करने से भी चुकता नहीं है। उन्हें उकसाता भी है, व्यंग्य भी कसता है। कभी-कभी अपने भाव-भंगिमाओं, ऊलजलूल हरकतों से दर्शकों का मनोरंजन भी करता है। भले फुले ने विदूषक की इस अभिनय प्रक्रिया को कोई

सैद्धान्तिकी रूप न दिया हो, लेकिन लगभग सौ साल बाद ब्रेष्ट जब रंग जगत में 'अलगाव का सिद्धान्त' लाते हैं तो बरबस फुले की विचारधारा और उनके रंगकर्म के प्रभाव की तरफ ध्यान चला जाता है। भले इसे कोई उल्लेखित न करे, लेकिन ये इतिहास है, अकाट्य तथ्य है कि ब्रेष्ट के इस 'अलगाव का सिद्धान्त' का उत्स कहीं है तो वो फुले के नाटकीय विचारधारा में है। इसे संयोग कहिये या फुले के नाटक के प्रतिरोधात्मक प्रभाव, जब सन 1873 में फुले मराठी में संवाद शैली में 'गुलामगीरी' लिख रहे थे, उसी समय भारतेन्दु हरिश्चंद्र 'सबै जाति गोपाल की' प्रहसन के द्वारा क्षत्री और पण्डित दो चरित्रों के संवादों के माध्यम से शास्त्रों के अन्तर्विरोधों को उजागर कर वर्ण-जाति व्यवस्था को बेनकाब कर रहे थे। उसी क्रम में सन 1881 में लिखा गया उनका कालजयी प्रहसन 'अन्धे नगरी' भी है। इस बात से कतई इंकार नहीं किया जा सकता है कि फुले जिस अन्दाज से ब्राह्मण वर्ग द्वारा फैलाये जा रहे धार्मिक पाखण्डों का भण्डाफोड़ कर रहे थे, उसके प्रभाव से हिन्दी रंगमंच बचा नहीं था। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के इस प्रहसन में बजापते 'जातवाला (ब्राह्मण)' नाम से एक पात्र है जो बाजार में चिल्ला-चिल्लाकर अपनी जात बेच रहा है। वो कह रहा है, 'जात ले जात, टके से जात। एक टका दो, हम अपनी जात बेचते हैं। टके के वास्ते ब्राह्मण से धोबी हो जाय और धोबी को ब्राह्मण कर दें। टके के वास्ते जैसी कहो वैसी व्यवस्था दें। टके के वास्ते झूठ को सच करै। टके के वास्ते ब्राह्मण से मुसलमान, टके के वास्ते हिन्दू से क्रिस्तान...'

फुले की तरह अम्बेडकर नाट्यविधा से डायरेक्ट तो नहीं जुड़े हुए थे, लेकिन रंगमंच के प्रति लगाव राजनीति के क्षेत्र में आने के पूर्व से ही रहा है। जब वे 'लन्दन स्कूल ऑफ इकोनोमिक्स एण्ड पोलिटिकल साइंस' में अर्थशास्त्र का अध्ययन कर रहे थे तो मराठी रंगमंच की गतिविधियों पर सूक्ष्म नजर रखते थे। अखबारों में प्रकाशित नाटकों की समीक्षा पढ़कर अम्बेडकर ने कई बार उन नाटकों की प्रतियाँ डाक से माँगाई थी। महाड़ चवदार तालाब के सत्याग्रह हेतु अम्बेडकर धन-संग्रह कर रहे थे तो इस अभियान से जुड़कर मा.

बाबूराम पेंढारकर, मा. सखाराम नारायणकाज रोलकर, मा. निर्मल लिबाजी गंगावणे ने अपनी नाटक मण्डलियों द्वारा नाटक खेला और धनराशि जमा किया। लेकिन इन मंडलियों द्वारा जिस विषयवस्तु वाले नाटक मंचित किये जाते थे, अम्बेडकर उससे सहमत नहीं हो पा रहे थे। अतएव इस ढंग से धन इकट्ठा किये जाने को उचित नहीं समझा। भक्ति पर आधारित नाटक के मंचन से जमा किये गये धन से अम्बेडकर को सत्याग्रह के तमाशा होने की आशंका लग रही थी। वे नाटक मण्डली से दलित-पीड़ितों के अधिकार पाने के लिए संघर्ष के जन्मे की अपेक्षा रखते थे। लेकिन 15 जून 1936 को जब चितरंजन नाटक मण्डली ने 'बॉम्बे थिएटर' में आप्पा साहब टिपनिस लिखित 'दक्खन का दीया' के मंचन को देखने के लिए अम्बेडकर को आमन्त्रित किया तो गये। अम्बेडकर के आने की खबर से थिएटर में दर्शकों की इतनी भीड़ हो गयी कि नाट्यगृह में चींटी को भी प्रवेश करने के लिए जगह नहीं थी। अम्बेडकर का ये कथन गौर तलब है कि 'मेरे दस भाषणों के बराबर एक नाटक होता है।' नाटक की ताकत अम्बेडकर अच्छी तरह से जानते थे इसलिए जब भी किसी सांस्कृतिक संस्थाओं ने बुलाया, जरूर गये। बोधिमण्डल के तत्वाधान में 20 नवम्बर 1955 को जब प्रा. चिटणीस द्वारा लिखा गया नाटक 'युग यात्रा' होने वाला था, आमन्त्रण आने पर स्वास्थ्य ठीक न होने के बावजूद नाटक देखने आए थे। सविता अम्बेडकर ने कहा था कि सर्दी में ज्यादा देर तक जगे रहने से तबीयत खराब हो जाएगी, इसलिए बीस-पच्चीस मिनट तक ही रहेंगे। नाटक के आयोजक भालचन्द्र वराले ने कहा कि 'हम बाबा साहेब के बैठने के लिए ऐसी व्यवस्था करेंगे जहाँ उन्हें सर्दी नहीं लगेगी।' चिटणीस ने उस नाटक में रामायण काल से लेकर वर्तमान कालखंड तक अस्पृश्यों की जो दीन-हीन दशा थी, उस यथार्थ को इतनी जीवन्तता से मंच पर उतारा की अम्बेडकर सर्दी, ठण्डी हवाओं को भूल हो गये। 8.30 बजे जो नाटक शुरू हुआ था, जब तक खत्म नहीं हुआ, तन्मय होकर देखते रहे। नाटक पर खुलकर बोले। सभी कलाकारों और चिटणीस की प्रशंसा की। भालचन्द्र की अगुवाई में

मण्डली के कलाकारों के साथ फोटोग्राफी भी करायी। इस नाटक से इतने अभिभूत थे कि पुनः इसका मंचन 14 अक्टूबर 1956 को नागपुर में ऐतिहासिक धर्मान्तर समारोह में भी मंचित करवाया।

जयशंकर प्रसाद की कहानी 'विरामचिन्ह' और प्रेमचन्द की 'सदगति', 'ठाकुर का कुआँ', 'घासवाली', 'मन्त्र', 'कफन', 'मन्दिर' और 'गोदान' उपन्यास का 'मातादीन-सिलिया' प्रसंग पर अम्बेडकर के राजनीतिक आन्दोलनों के असर से इंकार नहीं किया जा सकता है। अस्पृश्यता के सवाल पर गाँधी और अम्बेडकर के बीच जो बहस या कहे विवाद था, साहित्य उसे अपनी दृष्टि से विश्लेषित कर रही थी। परन्तु इससे इंकार नहीं किया जा सकता है कि साहित्यकारों-संस्कृतिकर्मियों का एक बड़ा वर्ग गाँधी के पक्ष में ही था जो कहीं न कहीं यथास्थितिवाद को ही स्थापित कर रहा था। कर्मकाण्ड, अन्धविश्वास, कुरीतियों पर प्रहार करने से इन्हें कोई परहेज नहीं था, हाँ वर्णव्यवस्था को खारिज करने में हिचक जरूर दिख रहा था।

सन 1936 में अम्बेडकर के धर्म छोड़ने की घोषणा से राजनीतिक हलकों में उथल-पुथल तो मचा ही, सांस्कृतिक क्षेत्र में भी भूचाल आ गया था। प्रेमचन्द ने 'मन्त्र' नाम से जो दूसरी कहानी लिखी वो इसी पर केन्द्रित थी। नया थिएटर के निर्देशक हबीब तनवीर की 'जमादारिन' (परिवर्तित नाम 'पोंगा पण्डित') नाटक की प्रस्तुति पर जगह-जगह हिन्दू कट्टरवादियों ने बवाल मचाया था, अवरोध उत्पन्न किया था, स्टेज पर चढ़ कर तोड़-फोड़ की थी, प्रतिबन्ध लगवाया था, वो इसी काल में रचा गया था। सम्भवतः लोक कलाकारों ने मिलजुल कर सामूहिक रूप से गढ़ा हो। हबीब तनवीर मिजाज के वामपन्थी थे लेकिन दूसरे वामपन्थियों की तरह वर्ग को लेकर जड़ नहीं थे, वर्ण भी भारतीय समाज का एक अहम हिस्सा है और इसकी अवधारणा को नजरअन्दाज नहीं किया जा सकता है, इस सत्य को भली-भांति जानते थे। तभी तो वे 'चरणदास चोर', 'आगरा बाजार', 'सड़क', 'बहादुर कलारिन', 'हिरमा की अमर कहानी' और 'देख रहे हैं नयन' जैसे नाटक करते हैं, उपेक्षितों-वंचितों-हाशिये के समाज को अपने नाट्य संसार का

पात्र बनाते हैं।

शंकर शेष ने 'एक और द्रोणाचार्य' में एकलव्य जैसे मिथक के माध्यम से वर्णवादी व्यवस्था को सवाल के घेरे में खड़ा कर दिया था। दूसरा नाटक 'पोस्टर' भी इसी तेवर और दृष्टिकोण का था। सन 90 तक आते-आते दलित चेतना का स्वर और तल्लू हो गया। शायद इसकी वजह देश में दलितों पर हो रहे जुल्म और प्रतिरोध में दबे-कुचले लोगों का लामबन्द होना हो। स्वदेश दीपक का लिखा नाटक 'कोर्टमार्शल' जो सन 90 में साहित्य कला परिषद, दिल्ली द्वारा सर्वश्रेष्ठ नाटक घोषित किया गया था और 1 जनवरी 1991 में रंजीत कपूर के निर्देशन में प्रथम मंचन किया गया था। हिन्दी का सम्भवतः पहला नाटक है जिसमें दलित संवेदना इतनी गहराई से व्यक्त है कि हर तबके के दर्शकों के बीच स्वीकार्य है।

स्वामी अछूतानन्द 'हरिहर' ने सन 1922 से 1932 तक जिस नाटक मण्डली के माध्यम से नॉटंकी शैली में फरूखाबाद के आस-पास दलितों को जगाने का अभियान चलाया, उसका नाम भी 'दलित थिएटर' ही रखा था। इसमें जो अभिनय करने वाले कलाकार थे, सब दलित समुदाय के ही थे।

आज अगर शहर के रंगमंच पर शरणकुमार लिम्बाले की आत्मकथा 'अक्करमाशी' को रणधीर कुमार नये मुहावरे के साथ प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत कर रहे हैं तो इस मुहिम में लगे रंगकर्मियों का एक दूसरा तबका है जो इसके समानान्तर गाँवों में सक्रिय है। वह दलित थिएटर का नया समाजशास्त्र तैयार कर रहा है। अपना सौन्दर्यशास्त्र गढ़ रहा है। वह जानता है कि जिस समाज में उसे नाटक करना है वहाँ शहरों की तरह न स्टेज, प्रकाश, प्रेक्षागृह उपलब्ध होगा न संस्कारी दर्शक। वे जानते हैं कि उन्हें बस्ती के उस उपेक्षित टोले में करना है जहाँ लोग सदियों से वर्णव्यवस्था के यातनागृह में कैद है, उन्हें इन्तजार है ऐसे कोरस के स्वर का जो उन्हें जगा सके। अगर जग गये तो ये कहा जा सकता है कि अम्बेडकर की विचारधारा का कुछ तो प्रभाव पड़ा है। चाहे माध्यम रंगमंच ही क्यों न हो? □

फुटबॉल का मैदान और स्त्री

आत्मकथा

सोना चौधरी

‘पायदान’ इस कड़वे यथार्थ से रूबरू करवाता है कि आम लड़की के सपनों के हकीकत में बदलने का सफर काफी मुश्किल होता है। और वह किसी भी ओहदे तक क्यों न पहुँच जाए, मर्दवादी सोच के झण्डाबरदार उसे पायदान से अधिक अहमियत नहीं देते जिस पर हर मर्द अपनी गन्दगी उड़ेल कर निवृत्त हो जाना चाहता है। घर की तथाकथित सुरक्षा हो या फुटबॉल का मैदान एक साधारण लड़की सिर्फ देह होने को अभिशप्त होती है। यह अभिशाप बहुधा उसे अवसाद के गहरे गर्त में ढकेल देता है, जिससे निकलने के लिए अपार साहस की आवश्यकता होती है।

—गीता दूबे



लेखिका भारतीय महिला टीम की पूर्व कप्तान हैं।

+918800507799

kutecustard@gmail.com



क्या भेड़ियों के झुण्ड ऐसे ही होते हैं? एक शिकार पर लपक रहा है और दूसरे निस्पृह हैं। भेड़िए के लिए शिकार स्वाभाविक है, माँस के लिए, भूख के लिए। इन्हें क्या चीज उकसाती है। अपनी समर्थता का अहसास या शिकार की असहायता? दोनों में साम्यता स्पष्ट थी। जिस तरह भेड़िए को माँस खाना अच्छा लगता है, समर्थों को अच्छा लगता है लड़कियाँ भोगना। यह नहीं कि मुझे तब भी कोई भ्रम था कि मैं पहली मजबूर लड़की हूँगी जिसके साथ वैसी घटनाएँ घटी। मेरे जानने में ही बहुत सी लड़कियों के साथ और भी बुरा-बुरा हुआ है। भेड़िए मेरे साथ प्रयास के आगे अभी तक नहीं बढ़ पाये, औरों के साथ शायद वे अपनी इच्छा पूरी करने में सफल रहे हों। मेरे सामने एक प्रशिक्षक ने यह दलील रखी थी कि हम किसी को नया खराब थोड़ी ही कर रहे हैं, जो पहले से ही खराब हो उसके साथ अगर बहती गंगा में हाथ धो लें तो क्या फर्क पड़ेगा। उस प्रशिक्षक के तीन बच्चे हैं।

मेरी सबसे बड़ी कमजोरी रही है कि हर चीज को बहुत अधिक दूर तक बर्दाश्त करती

हूँ यह परिस्थितिजन्य है। पैसा-प्रभाव पल्ले ना हो और आशा की कतार से निकल भागने का ना तय हो पा रहा हो और क्या होगा? जहाँ तक मैं सोचती हूँ त्याग के सन्तोष और और अनुभव के सन्तोष में बहुत फर्क होता है। मैंने इन दोनों को ही महसूस किया है। फिर लड़कियों के साथ बड़ी समस्या यह भी होती है कि बताना चाहते हुए भी वह नहीं बता पाती है कि वे किन परिस्थितियों से गुजर रही हैं। समाज, माँ-बाप, भाई-बहन, दोस्त-रिश्तेदार सब यह अनुमति तो देते हैं कि लड़की घुट कर दम तोड़ दे, लेकिन वह जो चाहती है, वह जो महसूस करती है, अगर उसे बाहर निकालेगी तो सबकी बदनामी होगी। इसलिए जो उसके अन्दर है, अन्दर ही रहे। गनीमत है डर से सच बोलना छूट नहीं जाता, फिर चाहे उस सच के अन्दर कुछ भी हो। यह बात भी तो है अगर मैं टूटी नहीं तो अन्दर से खुश भी नहीं रह पायी। औरों के इरादे नाकाम करने में अपनी ख्वाहिशों का गला भी घोंटा। कभी कभी लगता है मैं जमाने से लड़ रही हूँ या अपने आपसे। भारतीय टीम



में खेलने के लिए मुझे एक बार नहीं चार बार प्रयास करना पड़ा। हर बार आखरी चयन से वापस लौटना और फिर आशा करना, फिर निराशा होना। मैंने धैर्य रखने में हर सीमा पार कर दी। लेकिन उस सब के बाद भी मुझे लगने लगा कि मौका नहीं मिलेगा।

समय को, निराकार को, और बेरंग को एक बिन्दु से आरम्भ कर किसी अन्तिम बिन्दु तक पूरा नहीं किया जा सकता है। वैसा आदान-प्रदान हमारे बस में नहीं है। हम तो जो अपने अधिकार में है उसी का आदान प्रदान कर सकते हैं। समय ही तीनों में ऐसा है जो बिना उत्तर दिये भी आगे के प्रश्नों की तीव्रता कम कर सकता है।

मुझे समझ में नहीं आता था कि अचानक क्यों मैं फूट-फूट कर रोने लगती थी। अकेले में, रात में, कभी दोस्तों के बीच भी। एक बार रोना शुरू होता तो जल्दी रुकता नहीं था। रोने से थकान चढ़ी होती, पूरी तरह निकाल कर देने वाली, पर जी हल्का नहीं होता। रोना शुरू होने से पहले जैसा मेरा सारा मानस अवरुद्ध होता होता, रोने के बाद भी उसमें फर्क नहीं पड़ता। मर्ज के लक्षण प्रकट हो रहे थे पर उस समय यह मेरी समझ से परे था कि मैं मरीज हो रही हूँ।

अभ्यास, खेल और नौकरी बदस्तूर चल रहे थे। कभी-कभी मुझे थकान होने लगी थी। परिस्थितियों के प्रभावों से मुझे याद आती गयी वे घटनाएँ जो गाहे-बगाहे मेरे साथ घटती रही थी। मुझे महसूस होने लगता मानो मेरे हाथों का वजन बहुत हो गया है। जब मुझे पहली बार अहसास हुआ कि मैं थकने लगी हूँ, उस

दिन मैं सड़क के किनारे तेज-तेज कदमों से चली जा रही थी। आने जाने वालों की भीड़ ने मानो सड़क को ढक दिया हो। दोनों तरफ थीं एक के साथ एक लगी दुकानें, कहीं सब्जी, कहीं फल, कहीं किराना, कहीं दवाई। कार, रिक्शा, स्कूटर आदि वाहनों की कतारें, हर एक-दूसरे से तेज गति से दौड़ में शामिल, जैसे मुझे दबोचे ले रही थी। मैं अपनी परेशानियों के बोझ से दबी हुई हूँ, यह सोचती हुई चली जा रही थी। जब जिन्दगी में अच्छा होता है तो लगता है जिन्दगी की रफ्तार भी बढ़ गयी है, जब परेशानियाँ आती हैं तो लगता है सब कुछ ठहर गया है। कब आएगा वह दिन जब मेरी जिन्दगी और मेरे हिस्से का समय दोनों तेज रफ्तार से चलेंगे।

चलते-चलते मैंने पूरी दुनिया अपने अन्दर बसा ली, जिसमें मेरी उलझनें और मेरी आशाएँ थीं। उस समय खुद को खुद से जीतने का प्रयास परेशानियों से निकलने की कशमकश ने तोड़ रखा था। ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो मेरे हाथ मेरे कद से लम्बे हो गये हैं और इतने बोझिल हैं कि मुझसे उठाए नहीं जा रहे। एक मोड़ पर मैं अपने हाथों को लेकर इतनी परेशान हुई थी कि जिन्दगी के प्रति बढ़ती निराशा और स्वाभाविक चाहत में किसे चुनूँ तय नहीं कर सकती थी।

मानव आकाश अनन्त है और पृथ्वी गोल है। इनका किनारा नहीं होता। लेकिन फिर भी बाशिन्दों को, जिनका आकाश हुआ पृथ्वी से अटूट रिश्ता है, अपना किनारा साथ लेकर घूमना होता है। मैंने छोटी उम्र में खेल के माध्यम से नौकरी प्राप्त कर ली थी। यह तक

नहीं मालूम था कि नौकरी का मतलब क्या होता है और खुश हो गयी कि मुझे कि मुझे चाहने के अनुसार सरकारी नौकरी का वह रास्ता मिल गया जिस पर चलकर अपनी मंजिल तक पहुँच सकती थी। नौकरी करना मेरी मजबूरी थी जिसे दुनियादारी के लिए मैंने जुनून का नाम दे दिया। क्योंकि अगर मुझे सब सुविधाएँ उपलब्ध होती तो मैं शायद वैसी नौकरी करने का निश्चय बिना सोचे समझे उतनी छोटी उम्र में न करती। असलियत न मालूम होते हुए भी मैं यही सोचती थी कि जो इंसान जितनी मेहनत करता है उसे उतनी ही तरक्की मिलती है। मुझे अपनी मेहनत और दृढ़ निश्चयों के ऊपर बहुत विश्वास था। लेकिन सच्चाई कुछ और ही थी जो तब मैं नहीं जानती थी। हम अभाव में जलने वालों की कठिनाई यह है कि जो निकट है उसे ही किनारा कहने के हम आदी हैं, जो दूर है उसे दूसरी संख्या से पहचानते हैं। खेल के मैदान और किताबों के पन्नों तक सीमित होने के कारण हर क्षेत्र में अनुभवहीन थी। नौकरी लगते ही पढ़ाई बीच में छूट गयी थी। सर्विस में मुसीबतों ने भी आने की अपनी कतार बना ली। एक खतम हुई नहीं की दूसरी शुरू। हर बार यह लगता मानो हाल में जो मुसीबत है, वह बहुत बड़ी और कष्टदाई है। लेकिन और बड़ी जब आती तो बीती का आकार अपने आप छोटा हो जाता। मुसीबत ही मुसीबत का मरहम बनने लगी यानी एक को भूलने के लिए दूसरे की जरूरत पड़ने लगी।

नौकरी ने पेट और परजीविता की परेशानियों से छुटकारा दिला दिया था। परिवार की संकुचित पकड़ से भी मैं मुक्त थी। पर सेक्स को लेकर दिक्कतें बढ़ती ही गयी। शुरू में घर से भी किसी का आना नहीं होता था। सरकारी नौकरी और आर्थिक स्वावलम्बन के बावजूद गिनी तो मैं अकेली लड़की ही जाती थी, जिस पर हाथ मारने की कोशिश करने को कोई भी मर्द स्वतन्त्र था। फिर खेलों में भाग लेने वाली लड़की, जिसके आगे पीछे कोई मर्द ना हो, वैसे भी अपेक्षाकृत आसान शिकार मानी जाती थी।

**लेखिका की आत्मकथा
'पायदान' से साभार।**

□

पंखों को उड़ान देने वाली अर्चना दी

हाँ और ना के बीच

रश्मि रावत

अपने पीछे इतने सारे अधूरे काम,
अधूरे वादे, अधूरी बातें छोड़ दीं।
अभी तो इस आघात से मन थिर
भी नहीं पाया कि उन पर लिखने
की मजबूरी आन पड़ी। बड़ी
कशमाकश है कि उन्हें याद करते
हुए उनकी कहानियों, कविताओं,
किशोर साहित्य, संस्मरण,
आलोचना-समीक्षा कर्म, स्त्री
विमर्श पर लेखन, सम्पादकीय
लेखन पर और उनके तीन दशक
से अधिक समय तक किए गए
सम्पादकीय कर्म पर बात करूँ
या उनके प्रेमपगे अध्यापकीय कर्म
पर बात करूँ? या बात करूँ
उनके उस स्नेहिल रूप की
जिसके कारण उनके अनेकानेक
भाई-बहन, संगी-साथी,
बेटे-बेटियाँ अश्रुपूरित आँखें लिए
उमड़े चले आ रहे हैं। कौन किसे
राहत दे, पता ही नहीं चल
रहा है।



लेखिका दिल्ली विश्वविद्यालय के एक कॉलेज में
अध्यापन और प्रतिष्ठित पत्रिकाओं में नियमित
लेखन करती हैं।
+918383029438
rasatsaagar@gmail.com



चन्द पलों में धीमे से ऐसे दुनिया छोड़ कर
चली गयीं अर्चना वर्मा जी जैसे पढ़ते-पढ़ते
किसी की आँखें लग गयी हों और पूरे के
पूरे कुनबे को शोक में डुबो गयीं। नारियल
जैसी व्यक्तित्व वाली प्रभा दीक्षित जी झल्ला
कर उलाहने दे रही हैं कि अर्चना के बेटे-बेटियों
का कोई ओर-छोर भी है, किस-किस को
ढाँढस दिलाती फिरूँ? अर्चना जी के हर
सुख-दुख की संगिनी प्रभा जी के बिना उनकी
बात कतई नहीं की जा सकती। उनके विस्तृत
परिवार के सदस्य तो बहुत थे किन्तु जीवन
का हर उतार-चढ़ाव जिसके साथ एक घर
में रहते हुए अर्चना जी ने जिया वे तो उनके
बच्चों की प्यारी मौसू प्रभाजी ही थीं। एक-दूसरे
की पूरक थीं वे। एक-दूसरे के व्यक्तित्व को
जस का तस स्वीकार करके, निहायत खूबसूरती
से संगति बिठाना और एक-दूसरे के उठान
में निरन्तर सहयोगी बने रहना। इतनी मजबूती
और इतना ठहराव तो विरले ही सम्बन्धों में
मिलता है। छोटे-बड़े, ऊपर-नीचे के हिसाब
से काम का कोई बँटवारा नहीं। अपने-अपने
मिजाज के अनुरूप काम करते हुए अपना
भरपूर विकास करते जाएँ। ऐसी परिस्थिति ही

घर न दे सके तो घर का क्या फायदा। एक
दिन अर्चना दी ने कहा कि कुछ रचनात्मक
लिखना चाहती हूँ कहीं एकान्त में जा कर।
जैसे मन्नू जी लिखने के लिए कुछ दिन के
लिए घर से दूर चली जाती थीं। मैंने पूछा
कि आपने भी ऐसा ही घर बसाया है क्या
कि कुछ सोचने या रचने के लिए दूर जाना
पड़े? कुछ लम्हों के बाद उनकी उन्मुक्त हँसी
सुनाई पड़ी। कहने लगीं हँ मुझे शान्ति के
लिए कहीं जाने की जरूरत नहीं। अपने भीतर
संकल्प के मजबूत होने के लिए भी कई बार
हम कुछ एक्शन लेते हैं ताकि खुद को राजी
कर सकें। वर्ना उनका घर विषम मूल्यों पर
थोड़ी आधारित था कि अपने-अपने काम
करने के लिए निघर होना पड़े।

कुछ ही महीने पहले ही उनसे पहली
बार मेरा आमना-सामना हुआ था जब कथादेश
पत्रिका में स्त्री-प्रश्न पर कॉलम शुरू करने
की इच्छा से सिनोप्सेस उन्हें भेजी थी। उसके
बाद सारे लेख उन्होंने मँगवा कर पढ़े और
मिलने के लिए बुलाया था। ताजा-ताजा परिचय
और मेरा शुष्क स्वभाव। उनकी आवाज और
उनकी आँखों में औदात्य का, प्रेम का सोता

सा बहता है। उसने मेरे भीतर की मरुभूमि को इस कदर शीतल कर दिया कि साहित्यिक जगत में वह मेरी सबसे अधिक अपनी हो गयीं। उनके जाने से लगा कि मेरे परिवार का ही कोई चला गया। अब किसकी आँखों में अपने पनपने की खुशी देखूँगी। किसके लिए फलने-फूलने, विकसित होने का मन अब किया करेगा। खुशकिस्मती से निजी संसार में तो अपने शुभचिन्तक भरपूर हैं। पितृसत्तात्मक हथकंडों से मुक्त स्त्री के लिए सार्वजनिक परिदृश्य की यहाँ बात की जा रही है। लिखती तो सन 2007 से रही हूँ मैं। पहली बार खुले समाज में नाम की पुकार उनके ही मुँह से सुनी तो लगा अपनी खुदी की कैद से मुक्ति मिल गयी। पुरुष को अपनी बात खुद नहीं करनी पड़ती। 'क' 'ख' की बात करता है, 'ख' 'ग' की, 'ग' 'ख' की...और सबकी बात हो जाती है। हम स्त्रियाँ जो नागरिक की तरह जीना चाहती हैं, उनकी बात कौन करेगा? अँधेरों में डूबना ही नियति हो तो परम्परा के भीतर के अँधेरे क्या बुरे हैं?

कुल 7-8 मुलाकातें ही उनसे हुई होंगी। दो-चार बार ऐसा भी हुआ कि किसी सेमिनार से सीधे उनके घर चली गयी। प्रगतिशील लोगों का कार्यक्रम- जिसमें मंच में, मेरे अगल-बगल में सब ओर प्रगतिशील लोग थे। खुद मेरी कुर्सी में भी प्रगतिशील व्यक्ति बैठी थी। वहाँ से उनके घर जाने पर लगा कि मध्य काल से आधुनिक काल में आ गयी होऊँ। मैं हक्की-बक्की हो कर देखती रह जाती हूँ कि उनकी फेसबुक पोस्ट लिखने वाली और मेरे सामने बैठी मेरी प्रिय अर्चना दी क्या एक ही व्यक्ति हैं? एक ही व्यक्ति के दो आयाम कैसे हो सकते हैं? पिछले कुछ समय से अपनी ये दुविधा मैं उनसे फोन में कह भी रही थी। मिल कर बात करना तय हुआ था। बदकिस्मती से पिछले 2 महीने से मेरी उनसे मुलाकात हो ही नहीं पायी। पर इस वास्तविकता को रचने वाले मनोविज्ञान और परिस्थितियों को समझने की मेरी कोशिश हमेशा जारी रहेगी। इन ताने- बानों को समझना अनुकूल देश-काल को निर्मित करने के लिए जरूरी जान पड़ता है।

प्रेम की ऊष्मा से दमकता एकदम नये किस्म का घर-परिवार जिसके दरों-दीवार

सबके लिए खुले थे। विषमतामूलक मानसिकता से ऊपर उठ चुकी थी उस घर की सदस्याएँ। जाति, लिंग, वर्ग, क्षेत्र, भाषा की कोई सलवट उनके आचरण में कहीं नहीं। उनकी प्रगाढ़ आत्मीयता और पाना-देना खून के रिश्तों तक सीमित नहीं। कोई अर्थोपार्जन कैसे करता है और अपनी सम्पदा किस पर और कैसे व्यय करता है, इससे भी उनके व्यक्तित्व की खबर मिलती है। घर जाओ तो साधनहीन बच्चों को पढ़ाते हुए मिलेंगी। उनकी घरेलू सहायिकाओं की आँखों में जो चमक जुबान में जो मिठास होती है, उन्हें डाइनिंग टेबल पर बिठाकर जिस चाव से अर्चना-प्रभा जी गरम-गरम पूरी पकौड़े बना कर एक-एक करके परसते जाते हैं। उससे उस घर में उनकी जगह पता चलती है। खबर सुन कर ढाँढस बँधाने लगी तो कहा कि अर्चना चली गयी तो क्या मैं तो हूँ। इतनी बड़ी घटना की कोई शिकन नहीं उनके चेहरे पर। दोनों ने एक-दूसरे को अपने साथ से इतना मजबूत और समृद्ध कर दिया है कि अब दिलासा हो या प्यार या कुछ और बस लुटाती ही हैं वे। उन्होंने तो देहदान कर दिया है। अर्चना जी करने वाली थीं। उससे पहले देहान्त होने का उन्हें काफी दुख था। जीने का एकदम आधुनिक मुहावरा उनके घर मिलता है। आचरण का रेशा-रेशा आधुनिकता का नया कोड रचता है।

जब भी उनके घर से निकली हूँ यह सवाल मुझे मथता रहा है कि सामाजिक गतिकी अपनी स्वाभाविक लय से भी जिस विकास की ओर ले जाती है। हम प्रगतिशील लोग अपने आचरण का उतना विकास भी नहीं कर पा रहे हैं। ऐसा क्यों? क्या विरोध करने में जितनी उर्जा जाती है उतनी सही के पक्ष में आगे बढ़ने में नहीं? हम क्यों अपने कम्फर्ट जोन से बाहर नहीं आ पाते? जिन शब्दों से मेरे भीतर प्रगतिशील चेतना विकसित हुई और जीवन के नए बोध, नए सपने जगे। उन शब्दों पर अपना दावा करने वाले अधिसंख्य लोगों की रगों में जाति, लिंग, क्षेत्र के भेदभाव को बदस्तूर बहते देखा है। परिवर्तन तो धीमी गति से होगा मगर आचरण और विचारों में इतनी बड़ी खाई लोगों को किस तरह प्रभावित करती होगी। क्या हमें इस पर विचार नहीं करना चाहिए? दायित्वबोध सम्पन्न, वृहत

सरोकारों की एक खुदा शख्सियत जो इतनी पढ़ी-लिखी थी कि किसी भी विषय पर अधिकार के साथ तार्किक ढंग से बात कर सकती थीं। विरोधी व्यक्ति के लिए कण भर भी दुर्भाव लाए बिना बौद्धिक ढंग से बहस को आगे बढ़ाती थीं। उनका हमेशा यह निवेदन रहा कि तर्क का जवाब तर्क से दो नाम के आधार पर नहीं। प्रसिद्धि और पद का या किसी भी तरह का प्रलोभन उन्हें छू तक नहीं गया था। समझने की दरकार है कि मानवीय मूल्यों की धुरी पर अडिग, उदात्त, तर्कसम्पन्न विवेकशील व्यक्ति के तर्क उसे इन दिशाओं में क्यों ले जाते हैं और विरोधी तर्क अपना विवेक और सद्भाव कायम रख कर सामने वाले को अपने तर्कों से क्यों नहीं जीत पाता?

स्त्रियों के लिए इस परम्परा में है भी क्या? वह तो परिवर्तन के लिए तैयार ही बैठी रहती है बशर्ते कि प्रगतिगामी परिदृश्य के सरोकारों में समावेशिता हो। स्त्री को व्यक्ति मान कर बराबरी का स्पेस दिया जाए। हम स्त्रियाँ पूरे जोखिम उठा कर घर के बाहर आती हैं तो भी नागरिक न समझा जा कर वही आदर्श बहू, पर निर्भर कातरता ही उनमें खोजी जाए तो? अधिकांशतः सार्वजनिक महत्त्व के काम करने के लिए बिल्कुल बढ़ावा नहीं मिलता, कोई सराहना नहीं मिलती। ऐसे में बहुत सी स्त्रियाँ सामाजिक जीवन से अलगा कर अचानक अपने भीतर कैद हो जाती हैं, अवसाद में चली जाती हैं। तब कोई नहीं पूछता पर विरोधी बात करने पर विरोध जरूर होता है। कभी अवसाद या निराशा की परिणति अपने भीतर के अँधेरों में डूब कर होती है कभी बाहर के अँधेरों में।

पंख उड़ने के लिए हैं। पहली बार तो यह कोई बताता ही है। मेरे लिए वह पहली अर्चना दी ही थीं। परिवर्तन शील अग्रगामी जिन्दगी जीने के लिए अपना होना जरूरी होता है। अपने फलने-फूलने को सराहने वाली नजरों की ऊष्मा चाहिए होती है। अर्चना दी के नर्म ताप ने जाने कितने व्यक्ति रच डाले। विचारधारा उनकी जो भी हो पर सही के पक्ष में खड़े होने वाली जीवन्त व्यक्तित्वों की तो उन्होंने पूरी कतार खड़ी कर डाली है। ऐसी उदात्त अर्चना जी को मेरा सलाम।

□